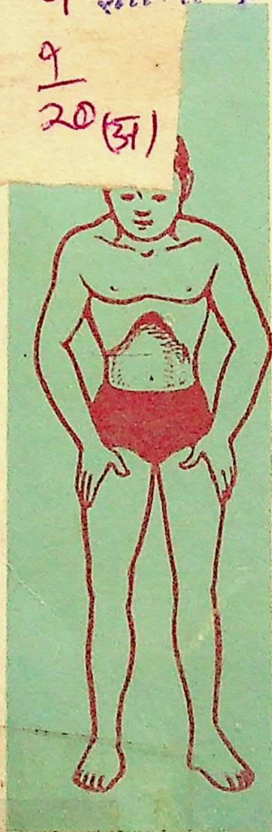
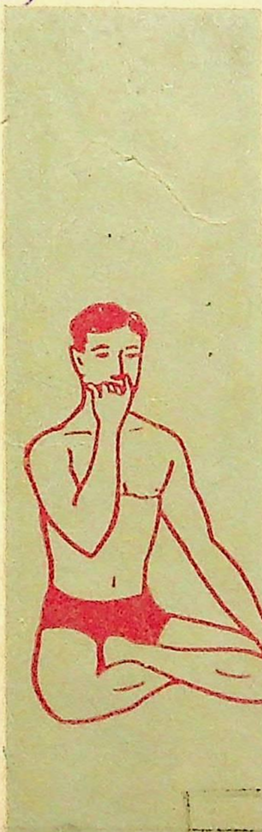
योग चिकित्सा







(योग-वि

रच

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)

योग-चिकित्सा

प्रथम खण्ड

(योग-विधियों के द्वारा विभिन्न साध्य-असाध्य रोगों की सरल चिकित्सा)



सम्पादक :
डा० चमनलाल गौतम

पूर्व सम्पादक—युग संस्कृति, जीवनयज्ञ

रचयिता—मन्त्र महाविज्ञान, तन्त्र माहविज्ञान, उपासना महा-
विज्ञान, शिव रहस्य, देव रहस्य, मंत्र योग, मंत्र शक्ति
से रोग-निवारण विपत्ति निवारण, कामना सिद्धि,
प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, योगासन
से रोग निवारण, सूर्य नमस्कार से
रोग निवारण आदि



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक :
डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर)
बरेली २४३००१ (उ० प्र०)

शाखा :
गली सेठ भीक चन्द, मथुरा.



लेखक :
कविराज दाऊदयाल गुप्त
रजिस्टर्ड मेडीकल प्रेक्टिश्नर



सम्पादक:
डा० चमनलाल गौतम



प्रथम बार १९७५



मुद्रक :
विश्वभारती प्रेस,
मथुरा.



मूल्य : पाँच रुपए, पिचहत्तर पैसे मात्र

भूमिका

योग के द्वारा रोगों के उपचार की पद्धति बहुत प्राचीन है और न जानें कब से चली आरही है । विद्वानों का अनुमान है कि अन्य जितनी भी चिकित्सा-प्रणालियाँ हैं, वे सब योग की चिकित्सा प्रणाली से बहुत बाद की हैं । यहाँ तक कि आयुर्वेदिक चिकित्सा भी, जो कि बहुत विस्तृत और वैज्ञानिक है, योग-विधियों द्वारा किये जाने वाले उपचारों की समकालीन नहीं मानी जाती ।

एक समय था जब कि रोगों के उपचार में योग के आसनों का प्रयोग किया जाता था और यह कहा जाता था कि मनुष्य-शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारों की असंख्यता का अनुमान करके ही भगवान् शिवजी ने चौरासी लाख की संख्या में योगासनों की कल्पना की थी । उनकी उस कल्पना का आधार संसार के वे सभी प्राणी थे, जिनकी विभिन्न आकृतियाँ किसी न किसी रूप में मनुष्य के लिए हितकर हो सकती थीं और यही कारण था कि भगवान् शिवजी ने उन आकृतियों का मनुष्य-शरीर की अनुकूलता से ताल-मेल बैठा कर उस-उस आकार के मानव अवयवों की रोग निवृत्ति के लिए विधान कर दिया ।

यद्यपि आसनों के उन आकारों के साथ उस समय केवल यही उद्घोषणा की गई थी कि वे जरा-मृत्यु को नष्ट करने वाले हैं । कुछ विशिष्ट आसनों के अनुभूत लाभों को देख कर उनके साथ उनके द्वारा शमन होने वाले रोगों का भी उल्लेख कर दिया गया था । परन्तु वैसे आसनों की संख्या बहुत कम थी, इसलिए उनके द्वारा शरीर पर होने वाली क्रियाओं का सूक्ष्म रूप से अन्वेषण किया जाने लगा ।

बाद में जो परीक्षण हुए, उनमें अनेक आसनों की कष्टसाध्यता और न्यून उपादेयता प्रमाणित हुई और योग-ग्रन्थों के पुनः संशोधन के समय उन्हें हटा दिया गया । इस प्रकार के परीक्षण-निरीक्षण भी लाखों वर्षों

तक चलते रहे और धीरे-धीरे निरर्थक आसनों की संख्या भी कम होती गई तथा अन्त में चौरासी योगासन ही अधिक उपयोगी प्रतीत हुए ।

परन्तु, उन चौरासी योगासनों को भी बार-बार कसौटी पर कसा गया । उनमें भी जो अधिक कठिन और निरर्थक प्रतीत हुए वे अलग कर दिये गए । उसके बाद रोगों के निवारण में जो उपयोगी सिद्ध हुए, उनकी संख्या बहुत ही कम रह गई । हमने उन आसनों के वर्णन के साथ उनके द्वारा मिट सकने वाले रोगों का भी वर्णन किया है । साथ ही उन सब की विधियाँ और चित्र भी इस ग्रन्थ में लगा दिये हैं ।

योग-विधियों से की जाने वाली चिकित्सा के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उसके सिद्धान्तों पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय और हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सफलता पूर्वक वर्णन हुआ है । योग-विधियों का परम लक्ष्य कुण्डलिनी जागरण द्वारा षट्चक्र वेधन और शिवत्व की प्राप्ति तो है ही, साथ ही स्वास्थ्य-वर्द्धन और आयु-वर्द्धन भी है । यदि शरीर स्वस्थ रहेगा तो साधना में चित्त लगेगा और शरीर ही रोगी एवं विकार-ग्रस्त है तो साधना में भी चित्त का लगना असम्भव है और उस अवस्था में परम लक्ष्य की प्राप्ति भी नहीं हो सकती ।

हमारे ऋषियों ने देखा कि मनुष्य का कल्याण परम लक्ष्य रूप शिवत्व या मोक्ष की प्राप्ति में ही है तो उन्होंने साधकों के लिए विभिन्न योग-विधियों की कल्पना की । जिनमें सर्व प्रथम शरीर और मन की शुद्धि का विधान किया गया । यम, नियम पूर्वक रहना और आवश्यक होने पर धौति, वस्ति आदि षट्कर्मों को करना योगी के लिए अनिवार्य कर दिया गया था । उन षट्कर्मों का परिवर्तित रूप आज भी अनेकानेक योगियों द्वारा ही नहीं, गृहस्थों द्वारा भी क्रियान्वित होता रहता है । जैसे दन्तमूल धौति के स्थान पर किसी श्रेष्ठ मंजन का प्रयोग ।

योग की अनेक मुद्राएँ बहुत सरल हैं । उनके द्वारा भी बहुत से रोगों की निवृत्ति हो सकती है । शास्त्रकारों ने उनके गुणों का उल्लेख

करते हुए किसी को किसी रोग में और किसी को किसी अन्य रोग में उपयोगी बताया है। उनमें से अनेक मुद्राएँ वृद्धावस्था को रोकने वाली कही गई हैं। उन मुद्राओं की क्रियाएँ आसनों के साथ सरलता पूर्वक की जाती हैं और यदि उनके साथ प्राणायाम भी किया जाय तो उनसे होने वाले लाभ में अधिकांश वृद्धि होजाती है।

सामान्य लोगों का विचार है कि प्राणायाम केवल योगियों के लिए ही हितकर है परन्तु तथ्य इसके पूर्णतः विपरीत है। प्राणायाम का अर्थ है—प्राण का आयाम अर्थात् वृद्धि करना। इसके अभ्यास से साधक श्वास को लम्बा या धीमा करने में अभ्यस्त होजाता है। शरीर के ऊर्ध्व भाग में प्राण वायु और अधोभाग में अपान वायु की स्थिति है। यदि प्राणवायु को कुछ नीचे और अपान को कुछ ऊपर उठाकर दोनों को मिलाया जाय तो शरीर जरा-मरण से रहित होजाता है—यह योगियों की मान्यता है और प्राणायाम के द्वारा इसका होना असम्भव नहीं है।

योग के अन्य चार अंग हैं–प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्द्रियों को विषयों से निकाल कर विकार-रहित करना ही प्रत्याहार है और यह कार्य चित्त की एकाग्रता से हो सकता है। यह एकाग्रता जहाँ मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होती है, वहाँ इसका उपयोग रोग-निवारण में भी कुछ कम नहीं है। चित्त की चंचलता उत्तेजना, अशान्ति, मोह, आदि को उत्पन्न करती है और जब तक उसका अस्तित्व बना रहता है, तब तक यह आशा करना कि वैसा मनुष्य स्वस्थ रहेगा, निरा भ्रम ही है। इसका सीधा-साधा अर्थ है कि प्रत्याहार का उपयोग योग-साधना में नहीं, शरीर को रोग-रहित बनाये रखने में भी आवश्यक है।

यही बात धारणा और ध्यान के विषय में समझी जाती है। एक प्रकार से धारणा ध्यान का ही पूर्व रूप है। मनुष्य शरीर पंचतत्वों से बना है और धारणा भी उन पाँचों की पृथक्-पृथक् की जाती है। उसका उद्देश्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के स्थायित्व के लिए उस तत्व की भावनात्मक रूप से वृद्धि करना है, जिसकी कमी शरीर में हो-

गई हो । अभिप्राय यह है कि यदि शरीर में वायु तत्व की कमी है, अर्थात् श्वास में निर्बलता है तो उसे वायु की धारणा से पूरा किया जा सकता है । इसी प्रकार अन्य तत्वों के विषय में भी समझना चाहिए ।

शरीर के रोग-निवारण में भावना का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है । वर्तमान कालीन सम्मोहन विज्ञान (हिप्नोटिज्म) के अस्तित्व में भी भावना का ही प्रभाव काम करता है, जिसके बल पर हिस्टीरिया, मृगी, उन्माद आदि के रोगी बिना किसी प्रकार की औषधि आदि के ही ठीक होजाते हैं । कैसे भी दर्द से चिल्लाता हुआ रोगी हिप्नोटिस्ट द्वारा दी-जाने वाली भावना से शीघ्र ही चुप होता और हँसने लगता है । इस प्रकार हिप्नोटिज्म की पद्धति में भावना ही आश्रय रूप है और उसका सम्पूर्ण क्रिया-कलाप योग पर ही आधारित है ।

ध्यान तो मन की पूर्ण एकाग्रता का प्रकट रूप है ही । इसमें यह जानना आवश्यक नहीं कि ध्यान के लिए ध्येय वस्तु क्या है? वरन् आवश्यकता यह होती है कि मन उस ध्येय वस्तु में पूर्णरूप से लीन हो-जाना चाहिए । यदि ऐसा होगया तो बाह्यवृत्ति के अन्तर्मुखी होते ही भौतिक दुःखों का भान नहीं होता और ऐसा न होना ही नवजीवन-दायिनी स्थिति समझनी चाहिए । समाधि इसका अन्तिम लक्षण है और उसमें न सुख की अनुभूति शेष रहती है, न दुःख की ही । इसलिए जब उसमें किसी व्याधि या विकार का शेष रहना ही सम्भव नहीं तो उस अवस्था को चिर स्वास्थ्य का आश्रय और मोक्ष प्राप्ति का परम साधन कहना कुछ अनुचित नहीं हो सकता ।

जो लोग योग-क्रियाओं को बनवासी साधकों का ही कर्त्तव्य समझते हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि योग-क्रियाओं के करने का गृहस्थों को भी उतना ही अधिकार है, जितना बनवासी ऋषियों को । क्योंकि योग ग्रन्थों में इन्हें करने का निर्देश भोगियों के प्रति भी मिलता है । भोग किसी पाप का नाम नहीं, वरन् वह कर्म है, जो कि गृहस्थाश्रम में अनिवार्य रूप से पालन किया जाता है । यदि ऐसा न होता तो योग-

ग्रन्थों में उस वज्रोली मुद्रा का वर्णन न किया गया होता, जिसकी सिद्धि स्त्री-संसर्ग के बिना हो ही नहीं सकती और जिसका लक्ष्य स्त्री-पुरुषों को ऊर्ध्वरेता बनाना मात्र है। उस मुद्रा के वर्णन से यह भी प्रकट होता है कि उस प्रकार का स्त्री-पुरुष संसर्ग योग का ही एक अंग है, जो कि गृहस्थों द्वारा किया जाना ही विहित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल योग-क्रियाओं का ही वर्णन नहीं है, वरन् उनके साथ प्रयोग में लायी जा सकने वाली अन्य क्रियाओं को भी समाविष्ट किया गया है। आज मनुष्य में एक प्रकार की ऐसी उतावली पायी जाती है कि वह किसी भी क्रिया के फल में विलम्ब होना पसन्द नहीं करता, जबकि योग-क्रियाओं का परिणाम प्रकट होने में विलम्व होना स्वाभाविक होता है। क्योंकि शरीर के विकारों का शमन कोई साधारण कार्य तो है नहीं, जो कि चुटकी बजाते ही पूरा होजाय, अपितु उसके लिए की जाने वाली कोई क्रिया धीरे-धीरे ही प्रभाव डाल सकती है और योग-क्रियाओं से यही हो सकता है।

उक्त सब बातों पर ठीक प्रकार विचार करके यह निष्कर्ष निकाला गया कि साधक से योग-क्रियाओं के साथ कुछ अन्य क्रियाएँ भी, जहाँ आवश्यक हों, करायी जाँय। हमारे शास्त्रों का मत है कि सूर्य में प्राण-दायिनी शक्ति विद्यमान है और इसीलिए अनेक आचार्य 'सूर्य को ही प्राण' कह कर प्राण को सूर्य का प्रतिनिधि या प्रतीक मानते हैं और सम्भवतः इसी सिद्धान्त के बल पर सूर्य-रश्मियों के द्वारा रोगों के उपचार होने लगे और उनसे बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त होने लगी। प्रस्तुत ग्रन्थ में उस विषय पर भी कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

योग-क्रियाओं से रोगों को चिकित्सा वाली पद्धति से कुछ कम पुरानी पद्धति आयुर्वेद की है, जो कि सब प्रकार से पूर्ण, परीक्षित और वैज्ञानिक है। आरोग्य-आकांक्षियों के लाभार्थ प्रायः सभी रोगों के उप-चारों का वर्णन करते हुए आयुर्वेदिक प्रयोगों का भी वर्णन कर दिया गया

है। इससे यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रन्थ सब प्रकार से पूर्ण है, जिससे योगी और भोगी सभी लाभ उठा सकते हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने मथुरा के प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री कविराज दाऊदयाल जी गुप्त से निवेदन किया। कविराजजी योग और आयुर्वेद दोनों के ही मर्मज्ञ और कुशल लेखक हैं। आपने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ का इस दृष्टि से प्रणयन किया कि यह योगी और गृहस्थ, दोनों के लिए ही उपयोगी सिद्ध हो सके। उनके इस अकथ परिश्रम और अभूतपूर्व देन के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारे इस प्रयास से सर्व साधारण पाठकों को ही नहीं, वरन् उन साधकों को भी बहुत अधिक लाभ हो सकेगा, जो अपने शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रखना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें योग का सहज अभ्यास होने के कारण, अधिकाधिक सफलता मिल सकती है। इस प्रकार यह ग्रन्थ योगी और गृहस्थ दोनों के लिए ही हितकारी है।

——प्रकाशक

विषय-सूची

योग चिकित्सा के सिद्धान्त

५१/२० (अ)

आसनों से रोगों की चिकित्सा

रोग शमन में मुद्राओं का उपयोग

प्राणायाम से रोगों का शमन

आयुर्वेद के अन्य उपयोगी-सिद्धान्त

साध्य रोगों की चिकित्सा

योग-चिकित्सा

योग-चिकित्सा के सिद्धांत

अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए योग विधियों का परिपालन अत्यन्त आवश्यक है। उससे किसी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति नहीं होपाती और शरीर हृष्ट-पुष्ट, बलवान बना रहता है। क्योंकि यौगिक क्रियाएँ शरीरस्थ प्राणों को सशक्त बनाती हुई शरीर में नव-जीवन का संचार करती हैं।

प्राचीन काल में इन क्रियाओं को किसी सद्गुरु की चरण-शरण में जाकर प्राप्त किया जा सकता था। वह सद्गुरु कोई अत्यन्त अनुभवी, परोपकारशील, विद्वान् और योगविधियों के ज्ञान में निपुण होता था। ऐसे सदाचारी ऋषि महर्षि अपने आश्रम में शिक्षार्थी ब्रह्मचारियों को शिष्य रूप शरण देकर अपना अनुभूत ज्ञान देते थे, जिसमें योग विधियों का समावेश भी होता था।

योग की शिक्षा का प्रारम्भ यम-नियम से होता था। यम-नियम के दस-दस प्रकार हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य-पालन, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, परिमित आहार (अल्प भोजन) और शौच यह दस हैं तथा तप, सन्तोष, दान, आस्तिक्य, लज्जा, मति जप, व्रत, ईश्वर-पूजन और सिद्धान्त (वेदान्त) श्रवण यह दस नियम हैं। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है, इसलिए विस्तार करना अभीष्ट नहीं।

इसके पश्चात् उन शिक्षार्थियों को योगासन और प्राणायाम की शिक्षा दी जाती थी। आसनों से शरीर का पूर्ण व्यायाम होजाता है

और उसमें लचक के साथ दृढ़ता भी आजाती है प्राणायाम से प्राणों को वल मिलता है, क्योंकि प्राणायाम क्रिया शरीर का पूर्णरूप से शोधन कर नवीन प्राण (आक्सीजन) का संचार करती है। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास रोग-प्रतिबन्धक एवं नवजीवनदायक उपाय है।

चिकित्सा में योग क्रियाओं का समावेश

योग की सभी क्रियाएँ स्वास्थ्य रक्षा के लिए परम उपयोगी सिद्ध होती हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि योग-साधन में तत्पर हुआ मनुष्य बाह्य संसार से प्रायः विमुख के समान होजाता है और उसे अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं रहती। उस अवस्था में उसके स्वास्थ्य को बनाये रखने वाली कोई क्रिया न हो तो अनेक रोग घेर सकते हैं और तब न तो योग-साधन ही होपाता है और न ईश्वरराधन में ही चित्त लग पाता है।

योग की दो प्रमुख पद्धतियाँ राजयोग और हठयोग के रूप में प्रसिद्ध हैं। राजयोग के द्वारा उच्च स्तरीय अनुभूति प्राप्त करके साधक स्वात्म-दर्शन में समर्थ हो सकता है। जबकि हठयोग के द्वारा साधक अपने भौतिक शरीर को शुद्ध करके दिव्य आत्मा के प्रत्यक्ष का आश्रय स्थान न सकता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण और सहस्रार पर्यन्त हुँचना सम्भव होता है।

भौतिक शरीर का उस स्तर तक होना शुद्ध हठयोग की उन्हीं क्रियाओं पर निर्भर है, जो कि स्वस्थ शरीर को दोष ग्रस्त न होने दें और अस्वस्थ शरीर को स्वस्थ बना सकें। हठयोग का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि मानस शरीर यन्त्र के समान है, जिसकी गतिविधियों का संचालन आत्मा करता है और उस आत्मा की शक्ति रूप में विद्यमान हैं अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकारादि अवयव जो कि स्नायुओं और ग्रन्थियों के द्वारा अपना कार्य-संचालन करने में समर्थ होते हैं। यदि वे स्नायु आदि

अपना-अपना कार्य सहज रूप से करते हैं और उनके नियमित होने में कोई दोष उत्पन्न नहीं है, तो फिर कोई कारण नहीं कि हम चाहते हुए भी अपने शरीर में प्रतिष्ठित इस आत्मा के दर्शन न कर सकें जो हमें परमात्म भाव की प्राप्ति करा सके।

इसके विपरीत यदि हमारे शरीरस्थ यन्त्रों की क्रिया स्वाभाविक नहीं है तो उससे शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टि से स्वास्थ्य का ह्रास होने लगता है और उस अवस्था में सात्विक वृत्तियों का भी धीरे-धीरे पलायन होने लगता है, उस पर पाशविक वृत्तियाँ आधिपत्य जमा लेती हैं। क्रोध, चिड़चिड़ापन, सत्य से विरोध आदि की प्रवृत्तियाँ बढ़ने से मनुष्य की सहनशीलता किनारा कस जाती हैं, जिसके कारण हत्या तक हो सकती है।

हठयोग के भी दो प्रकार प्रसिद्ध हैं—लययोग और स्वरोदय योग। लय योग से मानसिक एकाग्रता होती है और स्वरोदय योग से वायु और नाड़ियों के नियन्त्रण का ज्ञान होजाता है। ७२००० नाड़ियों में तीन नाड़ियाँ प्रमुख हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, इनके नियन्त्रण का अभ्यास होने से चमत्कारिक रूप से निर्विकारता और आत्म दर्शन की उपलब्धि सुलभ होती है।

शरीर में षट्चक्रों की विद्यमानता

मानव शरीर में छः चक्रों की विद्यमानता है, जिनके नाम हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र। मूलाधार गुदद्वार में, स्वाधिष्ठान उपस्थ मूल में, मणिपूर नाभिमूल में, अनाहत हृदय में, विशुद्ध चक्र कण्ठ में और आज्ञाचक्र भौंहों के मध्यभाग में होता है। उन चक्रों के भेदन से मनुष्य में अद्भुत सामर्थ्य भर जाती है। परन्तु उनका भेदन कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से ही सम्भव है जो कि हठयोग की क्रियाओं से सहज रूप में हो सकता है। यथार्थ में यह कुण्ड-

लिनी ही वह जीवनी शक्ति है, जो सोती रहती है तो मनुष्य अल्प सामर्थ्य वाला बना रहता है। परन्तु उसके जाग्रत् होते ही एक अतुल सामर्थ्य का आविर्भाव हो जाता है, जो कि मनुष्य को दिव्यभाव से सम्पन्न बनाने में समर्थ हैं।

स्वरोदय योग के द्वारा जिस स्वर ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसमें मनुष्य अपने भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के विषय में पूर्ण जानकार हो जाता है। उसे भविष्य में घटने वाली उन भीषण से भीषण घटनाओं के घटने का अग्रिम ज्ञान होजाता है, जिससे वह दुर्घटना आदि से अपनी रक्षा में समर्थ हो सकता अथवा श्रेष्ठ स्वर के ज्ञान से उत्तम स्वर का संचालन करता हुआ अपने बिगड़े हुए कार्यों को भी बना सकता है।

इस प्रकार हठयोग के दोनों अंग मानव के लिए अत्यन्त कल्याणकारी एवं भौतिक और पारलौकिक दोनों सुखों की सिद्धि कराने वाले हैं। जैसे पृथिवी को चेतन और क्रिया शक्ति की प्राप्ति उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों से होती है, वैसे ही मानव शरीर में भी दो अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति संस्थान ब्रह्मरन्ध्र और सुषुम्ना के रूप में विद्यमान हैं। ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार पद्म और सुषुम्ना संस्थान में कुण्डलिनी का केन्द्र मूलाधार चक्र है, जहाँ साढ़े तीन कुण्डलियाँ मारे हुए कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है।

जब तक सहस्रार के महासर्प और सुषुम्ना संस्थान की महासर्पिणी का मिलन नहीं होता, तब तक उनका जीवन आनन्द-रहित और व्यर्थ रहता है। यदि यह दोनों सजग होजाँय तो फिर कोई कारण नहीं कि ब्रह्माण्ड जैसी चेतना की प्रतीति अपने पिण्ड (शरीर) में भी दिखाई न दे सके। यद्यपि मूलाधार एक प्रकार से उपेक्षित स्थान है, तथापि उसमें शक्ति और सामर्थ्य ब्रह्मरन्ध्र से कम नहीं समझनी चाहिए।

मूलाधार की महान शक्ति

उस मूलाधार का इस प्रकार का रहस्य प्राय: बहुत कम मनुष्य जानते हैं। फिर भी यह सर्व विदित है कि मनुष्य अपने समान ही नये मनुष्य को जन्म देने में मूलाधार के द्वारा ही समर्थ हो पाता है परन्तु यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि कुण्डलिनी का जितना प्रभाव काम वासना के रूप में प्रत्यक्ष हो सकता है, उससे लाखों गुणा अधिक क्रिया शक्ति के रूप में उसे देख सकते हैं। इसी कुण्डलिनी शक्ति को सोते से जगाने के लिए जो योग क्रियाएँ की जाती हैं, वे कुण्डलिनी-जागरण के अतिरिक्त साध्यासाध्य सभी प्रकार के रोगों का शमन करने में समर्थ होती हैं।

हमारी उक्त विचारधारा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माण्ड के व्यापक गठन में जिस त्रैलोक्य की व्याप्ति मानी गई है, वही मनुष्य शरीर में भी विद्यमान है। इससे यह प्रकट होता है कि मानव का शरीर भी एक प्रकार के व्यापक ब्रह्माण्ड का ही छोटा रूप हो सकता है। पंचभूतों में आकाश प्रसिद्ध है, वह इस समस्त ब्रह्माण्ड को सत्वगुण के सहयोग से धारण किये हुए है और किसी आकाश ने लघु ब्रह्माण्ड रूपी इस मनुष्य शरीर को धारण कर रखा है।

शरीर में पंचभूतों का समावेश

पंचभूतात्मक इस शरीर में आकाश तत्व का कार्य व्यापार सुनने योग्य कर्णेन्द्रिय को केन्द्र बनाकर श्रवणशक्ति को उद्‌बोधित करना है। तथा शरीर के रोमकूप, नाड़िया, स्नायु एवं धमनियाँ भी आकाश तत्व से ही उत्पन्न होते हैं। वायु से शरीर की स्पर्शेन्द्रिय सुखमय भावों से परिपूर्ण होकर हर्ष आदि प्रतिक्रियाओं के संचार में समर्थ होती हैं। यही वायु हमारे शरीर में प्राणादि के रूप में विद्यमान होकर जीवनी शक्ति के रूप में सजग रहता हुआ पोषाणुओं और बीजाणुओं का सृजन किया करता है और इसी के द्वारा रक्त संचार को प्रेरक गति प्राप्त होती है।

अग्नि तत्व के द्वारा रज संज्ञक शक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। रजोगुण का प्रमुख गुण है रूप और उस रूप का देखना नेत्र रूप अग्नि-तत्व के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार अग्नितत्व की भी हमारे शरीर में प्रमुखता है और यही अग्नि जठराग्नि का स्वरूप धारण कर भोजन को पचाती और इसी प्रक्रिया से रक्त एवं रसों को उत्पन्न करती है।

जलतत्व का मुख्य अंश स्वाद या रस हो सकता है। इसका गुणधर्म स्वादेन्द्रिय रूप जिह्वा में प्रकट होकर केन्द्रित हो जाता है। इस प्रकार शरीर की सभी ग्रन्थियों और रस-रक्त वाहिनी नाड़ियों आदि में ग्रन्थि-स्राव तथा रुधिर एवं शुक्र आदि तरल हैं, उनकी उत्पत्ति का कारण जल ही होता है।

पृथिवी नामक भूत का कार्य गन्ध है। मनुष्य शरीर में चर्म, माँस-पेशी, दाँत, मज्जा और अस्थि आदि सभी पदार्थ पृथिवी तत्व के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप और रस की विद्यमानता पृथिवी से ही सम्भव है।

अब इन पाँचों भूतों के अधिदेवताओं के विषय में भी विचार करते हैं। आकाश के देवता इन्द्र, वायु के देवता मातरिश्वा, अग्नि के देवता अग्नि, जल के देवता वरुण और पृथिवी तत्व के देवता ब्रह्मा हैं। इस प्रकार मानव शरीर में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता मान्य होती है। क्योंकि यह सब देवता ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधार हैं।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समानता

आधुनिक वैज्ञानिकों ने मानव देह का जो सर्वेक्षण किया, उसके अनुसार देह में गन्धक और चर्बी ५-५ तोले, नमक १० तोले, एमोनिया आधसेर, शर्करा १ सेर और जल ३६ सेर होता है। साथ ही इतना लोहा भी मिलता है, जिससे लगभग २ इंच लम्बी कील बन सके, इस प्रकार के रासायनिक ढाँचे से संम्पन्न बुद्धि, विवेक, विचार और

ऋतम्भरा प्रज्ञा रूप विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न है और इनकी सहायता से वह दिव्य अनुभूतियों को प्राप्त करता हुआ आतम-दर्शन की प्राप्ति में समर्थ होता है।

उक्त विवरण यह सिद्ध करता है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की शक्तियों में पूर्ण समानता है और इसी कारण मनुष्य ब्रह्माण्ड में विद्यमान शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो सकता है। हमारे वेदों ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

—यजु ३१।१२

अर्थात् – उसी पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य श्रोत्र से वायु और प्राण तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।

ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए स्पष्ट विवेचन किया है कि 'हमारा आत्मा सूर्य का प्रतिनिधि है, मन चन्द्रमा का, रक्त मंगल का और वाणी बुध की प्रतीक है. ज्ञान बृहस्पति का, वीर्य शुक्र का और सुख-दुःख की अनुभूति शनि का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमारे शरीर में उक्त सप्त ग्रहों का आधिपत्य रूप से समावेश है। उनके द्वारा जैसी शक्ति प्राप्त होती है, वैसा ही आचरण और कार्य करने में हम समर्थ होते हैं।

त्रिदोष की स्वाभाविकता

और यह ग्रह ही ब्रह्माण्ड में काल-विभाजन की योजना करते हैं। इनके द्वारा ही दिन, पक्ष, संवत्सर आदि की अवधि निश्चित हुई है और और इन्हीं ने ऋतुओं के अनुसार शीत, उष्ण आदि प्रभावों को प्रकट किया है। यह ऋतु छः मानी गई हैं—ग्रीष्म, प्रावट्, वर्षा, शरद, हेमन्त

और वसन्त । परन्तु वेदादि प्राचीन शास्त्रों ने ग्रीष्म, षर्षा और शीत के भेद से तीन ऋतुओं को ही मान्यता दी है और इन ऋतुओं के आधार पर ही वात, पित्त, कफ की योजना आयुर्वेद ने निश्चित की है। यथा—'लघुरूक्षमिताहारादतिशीताच्छ्रमात्तथा, प्रदोषे कामशोकाभ्यां भीचिन्ता-रात्रिजागरैः' इत्यादि (शाङ्गंधर) के अनुसार लघु, रूक्ष और अल्प आहार से, अत्यन्त शीतकाल और बहुत ठंडे पदार्थों के सेवन से, अत्यन्त परिश्रम से, प्रदोषकाल (सायंकाल) में काम और शोक से, भय चिन्ता अधिक रात्रि जागरण, चोट लगने, अधिक तैरने, अन्न के जीर्ण होने और धातुओं के क्षय हो जाने आदि कारणों से वायु कुपित होता है।

'विदाहिकुटुकाम्लोष्ण भौज्यैरत्युष्णसेवनात्' इत्यादि (शाङ्गंधर) के अनुसार विदाही, तीक्ष्ण अम्ल और उष्ण पदार्थों के सेवन से, अग्नि या धूप के सेवन से, मध्याह्न काल में और भूख-प्यास रोकने से, भोजन के पचने के समय और अर्द्धरात्रि के समय पित्त प्रकुपित हो जाता है।

'मधुरस्निग्धशीतादिभोज्यैर्दिवसनिद्रया' इत्यादि (शाङ्गंधर) के अनुसार मधुर, स्निग्ध और शीतल आदि पद से उड़द के पदार्थों के सेवन से, दिवा शयन से, मन्दाग्नि से, प्रातः काल में, भोजन करने परन्तु परि-श्रम न करने से कफ का प्रकोप होता है इस विषय में निम्न मान्यता भी है।

ग्रीष्मे संचीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति।
वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति।
हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ॥
प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः।
शरत्काले वसन्ते च पित्त प्रावृड्ऋतौ कफः ॥

अर्थात्—ग्रीष्म ऋतु में वायु का संचय होता है और प्रावट् काल में प्रकोप होता है। वर्षा-ऋतु में पित्त का संचय होता और शरद ऋतु में प्रकोप होता है। हेमन्त ऋतु में कफ का संचय होता है और वसन्त ऋतु

में प्रकोप होता है। शरद् ऋतु में वायु, वसन्त ऋतु में पित्त और प्रावृट् ऋतु में कफ, यह तीनों ही प्रायः स्वतः शान्त हो जाते हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद ने तीनों दोषों के प्रकोप का कारण शीतादि को ही प्रमुख रूप से माना है। इन तीनों दोषों के पाँच-पाँच प्रकार होते हैं, यथा—वायु के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पित्त के पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक तथा कफ के क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और श्लेषण।

पंच प्राण और पंच उपप्राण

उक्त प्राणादि पंच प्राणों में प्राण की प्रमुखता स्वीकार की गई है। यह प्रथम प्राण मुख और नासिका के मध्यभाग में, नाभि में और हृदय में अवस्थित रहता है। अपान के स्थान गुद, उपस्थ, जाँघ, घुटने, उदर, कटि, नाभि और पिण्डलियाँ हैं। व्यान की विद्यमानता श्रोत्र, नेत्र, कन्धे और कण्ठ में है। उदान हाथ-पाँवों में अवस्थित है और समान समूचे शरीर में स्थित रहता है।

पाँच उपप्राण नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय भी प्रसिद्ध हैं। इनकी स्थिति चर्म और अस्थि आदि में है। इनका कार्य क्रमशः डकार-वमन आदि, शरीर की शोभा (सुन्दरता) आदि, नेत्र बन्द करना-खोलना आदि, क्षुधा-पिपासा उत्पन्न करना आदि तथा तन्द्रा-आलस्य उत्पन्न करना आदि है।

यदि इन दसों प्राणों की क्रिया को नियमित-नियंत्रित रखा जा सके तो कभी किसी रोग की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती और प्राणायाम के अभ्यास से कार्य कुछ कठिन नहीं है। इसीलिए योगाभ्यासियों को 'प्राण-जित' कहा जाता है और यह मान्यता निर्मल नहीं कि प्राण को जीत लेना ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेना है।

शरीरस्थ पित्त के पांच भेद

शरीर में विद्यमान पित्त के अपने कार्य-भेद से पाँच प्रकार हैं— पाचक पित्त, रंजकपित्त, साधक पित्त, आलोचक पित्त और भ्राजक पित्त। इन पाँचों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं, जिन पर विचार किया जाता है—

पाचक पित्त की उत्पत्ति यकृत और अग्न्याशय में होती है। इसका कार्य उपादेय पदार्थों को तरल के रूप में परिवर्तित करना और अवशिष्ट अंश को मल, मूत्र, पसीना आदि के रूप में बाहर निकालना है। यही भोजन को पचाता और शरीर के तापमान को नियमित करता है।

यकृत में उत्पन्न होने वाले स्राव को रंजक पित्त कहते हैं। यकृत तरल आहार के अंश के शोधन का कार्य करता है, जिससे उस तरल का वर्ण लाल होजाता है। इस प्रकार रक्त को उत्पन्न करना और अवशिष्ट भोजन का अधिक परिपाक करना भी इसी का कार्य है।

साधक पित्त मनुष्य शरीर में चैतन्यता और आनन्द का प्राकट्य करता है। आहार के परिपाकोपरान्त उसके श्रेष्ठ अंश का पौष्टिक रसों और रक्त आदि के रूप में जो परिवर्तन होता है, उसका अत्यन्त श्रेष्ठ अंश ही साधक पित्त होता है।

पित्त का सर्वोत्कृष्ट अंश ही आलोचक पित्त होता है, जिसके द्वारा नेत्रों की ज्योति में दिव्यता का आविर्भाव होजाता है और इसी पित्त की सहायता से योग-साधक को आत्म दर्शन हो सकता है। इस प्रकार आलोचक पित्त नेत्रों की स्थूलता को सूक्ष्मता में बदलने का कार्य करता हुआ नेत्र ज्योति को तीव्रतम करने में सहायक होता है।

पित्त के आन्तरिक स्राव का उज्वल अंश ही भ्राजक पित्त है। इसका कार्य शरीर में स्निग्धता बनाये रखना और कान्ति उत्पन्न करना है। इसकी स्थिति चर्म-प्रदेश में है, इसलिए इसके नियमित रहने से

किसी चर्म-रोग की सम्भावना नहीं रहती। मानव शरीर को सुन्दर बनाने में भी यह बहुत सहायक होता है।

कफ के पाँच प्रकार

अब तीसरे तत्व कफ के विषय में भी कहना उचित होगा। इसके पांच भेदों में प्रथम क्लेदन कफ है, जो कि आहार को पाचक रसों की सहायता से सूक्ष्मातिसूक्ष्म करके लुगदी के रूप में बदलने का कार्य करता है। उदर में आहार के पहुँचते ही उसे पचाने वाला रस-स्राव प्रारम्भ होता है, वही क्लेदन कफ माना गया है।

अवलम्बन कफ का कार्य समूची देह-प्रणाली में अंश रूप से विद्यमान रहकर वक्षस्थल में अधिक सक्रिय रहना है। इसके द्वारा हृदय और फुफ्फुस में स्निग्धता का संचार होता है, इसके कारण इन दोनों अवयवों की कम्पन ध्वनि में व्यवधान सम्पन्न नहीं हो पाता।

रसन कफ की उत्पत्ति जिह्वा में होती है। इसलिए इसकी सहायता से सब प्रकार के स्वादों की उपलब्धि होती है। यह सदैव लाल-ग्रन्थियों से स्राव के रूप में निकलता है, इसे लार भी कहते हैं।

स्नेहन कफ शरीर के सभी अवयवों की थकान दूर कर उनमें ताजगी उत्पन्न करता है। शरीरस्थ जो ग्रन्थियाँ रुधिर के एक प्राकृत पदार्थ द्वारा पोषण प्राप्त करती हैं, उन्हीं के द्वारा इस का स्राव प्रभावित हुआ करता है। आयुर्वेद के अनुसार इसका स्थान मस्तिष्क है और वहीं से इसके स्राव का प्रसार होता है। योगाचार्य इसी को 'अमृत' कहते हैं और विभिन्न क्रियाओं के अभ्यास से ऐसा प्रयत्न करते हैं कि यह उदरस्थ अग्नि में न पड़ सके। इस कफ को 'तर्पक' और 'सोम' नाम भी दिया गया है।

श्लेषण कफ शरीर की समस्त की सभी ग्रन्थियों और हड्डियों के जोड़ों में लिपटा रहता है। इसका कार्य उन-उन जोड़ों पर अवयवों

की क्रियाओं को सुचारु रूप से संचालित करना है। इसके कारण उन जोड़ों, मांसपेशियों और स्नायुओं में आर्द्रता और स्निग्धता के साथ दृढ़ता भी बनी रहती है।

दोषों के प्रकोप से रोगों को उत्पत्ति

इस प्रकार वात, पित्त, कफ के सभी रूपों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इनकी क्रिया या स्थिति में दोष उत्पन्न होजाना ही प्रकोप होना कहा जाता है। क्योंकि वह प्रकोप ही शरीर के आन्तरिक यन्त्रों में गड़बड़ी उत्पन्न करके अनेक प्रकार के रोगों की सृष्टि करता है। यदि इनमें से कोई एक दोष प्रकुपित होता है तो रोग सुसाध्य रहता है, परन्तु एक से अधिक दोषों के प्रकोप से उनके लक्षणानुसार रोगी कृच्छ्रसाध्य या असाध्य अवस्था में होजाता है।

ब्रह्म से पंचतत्व और उनसे शरीर की उत्पत्ति

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगया कि सभी प्राणिशरीरों में पंच महाभूतों की विद्यमानता है और उन भूतों में से किसी एक के भी अल्प या विकारग्रस्त होने पर शरीर में रोगों की उत्पत्ति होजाती है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा, पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत और पंच महाभूतों से समस्त प्राणि रूप संसार उत्पन्न होता है। इस प्रकार शरीर को उन महाभूतों का विकार रूप समझना चाहिए। क्योंकि उन महाभूतों के विकार से अथवा उन विभिन्न महाभूतों के कार्य-कारण भेद से अंश तत्व, वाचक-वाच्य, स्थानभेद, विषय देवता और कोशभेद रूप में विभाग होते हैं। तत्व रूप से शरीर में अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह पाँचों आकाश से, समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण, यह पाँचों वायु से, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण, यह

पाचों अग्नि से, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पाँचों जल से तथा वाणी, हाथ, पाँव, गुदा और उपस्थ पृथिवी तत्व से बने हैं।

सप्तधातु के योग से पिण्ड-रचना

शरीर में आकाश से अग्नि पर्यन्त प्रत्येक महाभूत का मुख्य पूर्व भाग और अन्य चारों महाभूतों के चार-चार भाग समाविष्ट रहते हैं। इस प्रकार यह सभी महाभूत परस्पर एक दूसरे का आश्रय लेकर स्थित हैं और जब इन सब से युक्त हुई पृथिवी चेतन तत्व से समन्वित होती है, तब इस पृथिवी से औषधि, अन्न, चारों प्रकार के पिण्ड, रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, वीर्य आदि सप्तधातु उत्पन्न होती हैं। उन धातुओं के योग से पिण्ड उत्पन्न होते हैं। नाभि स्थान में अन्नमय पिण्ड होता है और उसके मध्य भाग में नालयुक्त पद्मकोश के समान हृदय है, उसके भीतर कर्त्तापन के अहंकार तत्व से युक्त देवताओं का निवास है। यही हृदय ग्रन्थि या वात ग्रन्थि की स्थिति समझी जाती है।

कण्ठ के आश्रय में मोहरूपी तमोगुण या अज्ञान का पिण्ड है और योग शास्त्रों के अनुसार सम्पूर्ण जगत् इसी में व्याप्त रहता है। क्योंकि संसार की उत्पत्ति मोह या अज्ञान से ही मानी गई है। इस प्रकार शरीर में जैसे-जैसे कोशों की व्याप्ति है, जीव भी वैसे-वैसे ही आचरण वाला होता है और वह आचरण ही शरीर के ह्रास या उत्थान का कारण बनता है। अथवा यों कहिये कि आचरण के अनुसार ही स्वास्थ्य रह सकता है। बुरे आचरण से स्वास्थ्य नष्ट होकर विभिन्न रोगों की उत्पत्ति और श्रेष्ठ आचरण से शरीर में आरोग्य, तेज, बल, सुगठन और सुन्दरता की उपलब्धि होती है।

मनुष्य शरीर का परिणाम

मनुष्य शरीर का परिणाम, उसकी अपनी अँगुलियों से नापने पर छियानवे अँगुल का होता है। प्राण का परिणाम शरीर से बाहर अँगुल

अधिक समझना चाहिए। मानव शरीर के मध्य भाग में तप्त स्वर्ण की प्रभा वाला तीन कोण का जो अग्नि स्थान है, वहाँ विद्यमान अग्नि के योग से शरीर में स्थित वायु को कम या अधिक किया जा सकता है। यदि अग्नि अधिक बढ़ा हुआ हो तो उसे कम करना चाहिए और मन्द हो तो उसे तीव्र किया जाय।

अग्नि स्थान पर ही नौ अंगुल परिणाम का, चार अँगुल ऊँचा और चार अँगुल चौड़ा एक कन्द है, जो कि बारह अरों से युक्त और सहज रूप से घूमने वाला है। उस कन्द के मध्य भाग में ही कमलसूत्र के आकार की सुषुम्ना नाड़ी है जो कि ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। उसके अगल-बगल में इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं, जो कि कन्द से निकल कर नासापुटों तक गई हैं। इड़ा बाँये नासापुट में और पिंगला दाँये नासापुट में जाकर समाप्त हुई है। इन्ही दोनों को क्रमशः चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी कहते हैं। इसी प्रकार गान्धारी और हस्तजिह्वा नाम की नाड़ियाँ क्रमशः बाँये और दाँये नेत्र तक और पूषा और यशस्विनी श्रोत्रों तक गई हैं। अलम्बुषा नाम की नाड़ी मेढ़ स्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई है और कौशिकी नाम की नाड़ी पाँव के अँगूठे तक। इस प्रकार यह दशों प्रधान नाड़ियाँ कन्द से निकली हैं। इन नाड़ियों के मार्ग यदि मल से रुकने लगते हैं तो शरीर में अनेक विकारों की उत्पत्ति होजाती है। इसीलिए योगशास्त्रों में इन नाड़ियों के शोधन के विधान रूप में प्राणायाम की व्यवस्था निश्चित की गई है।

शरीरस्थ ग्रन्थियों के कार्य

इस प्रकार मनुष्य शरीर में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तत्व का समावेश सिद्ध होने से यह स्पष्ट होजाता है कि शरीर का निर्माण उन्हीं तत्वों से हुआ है तथा उनका प्रतिनिधित्व शरीरस्थ ग्रन्थियों के रूप में भी होता है। इसीलिए योगाचार्यों ने प्रत्येक तत्व

से सम्बन्धित ग्रन्थि को उसी के अनुरूप नाम दिया है। वे ग्रन्थियाँ भारतीय योगियों की खोज का ही परिणाम हैं, जिसकी पुष्टि आधुनिक चिकित्सा शास्त्री भी करते हैं।

प्राचीन शास्त्रों में इन ग्रन्थियों का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार शरीर में आकाश ग्रन्थि की प्रमुखता है। आकाश के सम्बन्ध से उसके अन्य पर्याय आकाश-ग्रन्थि या नभोग्रन्थि भी है। इस ग्रन्थि का कार्य-क्षेत्र कण्ठ में अवस्थित ग्रीवास्थि और कण्ठ के ऊर्ध्व स्थान के मध्य में है, जहाँ कि उस तत्व के कार्य संचालन का प्रमुख केन्द्र समझा जाता है।

आकाश ग्रन्थि से निकलने वाले रसों के द्वारा रोगों से उत्पन्न विषों का शमन होजाता है, तथा शरीर में दृढ़ता और आरोग्य की प्राप्ति होती है। आकाश तत्व में सत्वगुण की प्रधानता होती है, इसलिए आकाश ग्रन्थि की प्रमुखता वाले मनुष्य में सात्विक गुणों की अधिकता रहती है। ऐसे मनुष्य का शरीर ही नहीं मन भी पूर्णरूपेण शुद्ध और स्वस्थ रहता है। इसका नाम नभोग्रन्थि या व्योमग्रन्थि भी है।

वायुग्रन्थि का यह नाम उसके वायु तत्व से सम्बन्धित होने के कारण पड़ा है। इसे पवन ग्रन्थि या वातग्रन्थि भी कहते हैं। इसका स्थान वक्षस्थल माना गया है। वहाँ हृदय, फुफ्फुस, ग्रीवा एवं कोषाणुओं का आविर्भाव करने वाली अनेक ग्रन्थियाँ रहती हैं और इन ग्रन्थियों के समूह को ही वायु ग्रन्थि कहते हैं। कुछ लोगों के मत में इसका नाम हृदय-ग्रन्थि है परंतु योगकुण्डल्युपनिषद् ने इसे विष्णुग्रन्थि कहा है, यथा—'विष्णुग्रन्थि प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता' अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति 'हृदय में स्थित विष्णु ग्रन्थि को प्राप्त होकर और भी ऊपर चढ़ती है।'

हृदय और फुफ्फुस, यह दो अवयव ही देह-प्रणाली के दायित्वों का पूर्ण रूप से निर्वाह करते हैं, क्योंकि वायु की प्रमुख गतिविधियाँ भी वहीं तक होती हैं और यह दोनों ही अवयव अनवरतरूप से गतिवान रहे आते हैं, यह जन्म से मरण पर्यन्त कभी भी अपने संचार से नहीं रुक

पाते और यह सर्व विदित है कि उनके उस निरन्तर गतिशीलता का रहस्य एकमात्र प्राणवायु ही है ।

अग्नि की प्रधानता वाली ग्रन्थि में यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय और शुक्र ग्रन्थि आदि का भी समावेश है । इसीलिए इसे कुछ लोग सूर्यग्रन्थि भी कहते हैं । इसी ग्रन्थि के सहयोग से अन्न के ठीक प्रकार से पाचन और उदरानल के विवर्द्धन आदि की क्रियाएँ सुचारु रूप से चलती रहती हैं । इसी ग्रन्थि का यह कार्य है कि शरीर में जीवनीय शक्ति सुदृढ़ रही आवे ।

मूत्र ग्रन्थि, पितृग्रन्थि, मदन ग्रन्थि और कन्दर्प ग्रन्थि आदि के समूह रूप में जल-सम्बन्धी ग्रन्थि की विद्यमानता है जिसे वरुण ग्रन्थि या सोम ग्रथि भी कहते हैं ।

कुछ विद्वानों के मत में यह ब्रह्मग्रन्थि है और सर्व प्रथम इसी का वेधन करके कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर बिजली की रेखा के समान चढ़ती है, यथा-

ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ।।

स्त्रियों के शरीर में पुरुषों के शरीर से भिन्नता होने के कारण का इनका समूह मातृग्रन्थि, मिथुन ग्रन्थि और रति ग्रन्थि के रूप में अवस्थित है । इसी के अन्तर्गत लसिका वाहिनी ग्रन्थियाँ हैं, जिनका कार्य रोग-प्रतिषेधक स्राव करते रहना है ।

शरीर की माँसपेशियों और अस्थियों के निर्माण में पृथिवी तत्व का बड़ा भारी योगदान है और इसीलिए पृथिवीग्रन्थि की सबलता वाले मनुष्यों में स्थूलता भी अधिक पायी जाती है क्योंकि उनके शरीरों में रुधिर, माँस, मेद आदि पदार्थ अधिक मात्रा में रहते हैं । उनके विचारों में अधिक दृढ़ता और अस्थिरता रहती है, उसका कारण पृथिवी की स्थिरता और दृढ़ता का प्रभाव ही समझना चाहिए ।

मस्तिष्क ग्रन्थि की महानता

मनुष्य के मस्तिष्क में एक अन्य ग्रन्थि समूह की विद्यमानता है, जो कि श्रवण शक्ति, विचार शक्ति, चक्षुशक्ति और स्मृति शक्ति को नियन्त्रित रखती है। इच्छाशक्ति की अवस्थिति भी इसी ग्रन्थि-समूह में समाविष्ट है। यह ग्रन्थि देहस्थ पंचभौतिक ग्रन्थियों के कार्य में सहायक होती हुई, उनके दोषों का निवारण करने में सतत प्रयत्न-शील रहती है। इसलिए योगाचार्यों के अनुसार यह ग्रन्थि अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उस ग्रन्थियों से कुछ ऊपर एक ग्रन्थि-समूह और है, जिसके अंतर्गत सोमग्रन्थि, देवाक्ष ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थि, त्रिकूट ग्रन्थि औरसहस्रार ग्रन्थि संज्ञक ५ ग्रन्थियाँ आती हैं। परंतु शास्त्रों ने इन सभी ग्रन्थियों को रुद्रग्रन्थि में ही समाविष्ट मान कर इसका स्थान भौंहों के मध्य में निश्चित किया है। यहीं आज्ञाचक्र की भी स्थिति है।

यह समूह अपनी निर्विकार अवस्था में मनुष्य को सत्वगुण से प्रभावित रखता और उसमें दिव्यता का आविर्भाव करने में समर्थ होता है। इससे जो आन्तरिक स्राव होता रहता है वह अमृत के समान होने के कारण सोमधारा के नाम से कहा जाता और सभी स्नायुओं को सबल बनाता हुआ उन्हें चैतन्यता से युक्त रखता है।

ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार चक्र

इसी ग्रंथि के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र अवस्थित है। यह शरीरस्थ आकाश और ब्रह्माण्डस्थ महाकाश के मध्य आन्तरिक बनाये रखता है। इसमें सत्व, रज, तम नामक तीनों गुणों में से किसी की भी पहुँच नहीं होती और इस प्रकार यह त्रिगुणातीत परम शुद्ध महासागर है, जिसमें योगशास्त्रानुमोदित कैलास शिखर की विद्यमानता है। यहीं परम शिव रूप सर्वोच्च सत्ता का निवास है और यहीं कुण्डलिनी शक्ति का अष्टधा

प्रकृति को प्राप्त होकर षट्चक्र वेधन के पश्चात् सुषुम्ना द्वार के द्वारा शिव से मिलन होता है। योगकुण्डल्युपनिषद् में भी इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है—

सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृत्तिकारणा॥

अर्थात्—सहस्रदल कमल (सहस्रार) में पहुँच कर कुण्डलिनी शक्ति शिव से मिल कर आनंद को प्राप्त होती है और यही श्रेष्ठ एवं मोक्ष के देने वाली अवस्था है।

योग में भौतिक सुख की भावना का समावेश

इस प्रकार योग-विधियों और उनके द्वारा सम्पन्न होने वाली क्रियाओं का उद्देश्य जहाँ मोक्ष रूप पूर्णानंद की प्राप्ति है, वहाँ मानव के भौतिक शरीर को आरोग्यादि के रूप में सुख की प्राप्ति भी है। उन विधियों और क्रियाओं के द्वारा वैरागियों और संयासियों आदि का ही नहीं, गृहस्थों का भी उपकार हो सकता है। परंतु आवश्यकता इस बात की है कि उनको ठीक प्रकार समझा जाय। यदि मनन पूर्वक देखें तो यह सिद्ध होजाता है कि मनुष्य के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धन और रोग-निवारण की अनूकूल विधि वही है जो योगशास्त्रियों द्वारा निर्णीत की गई है। उसमें पूर्ण रूप से स्वाभाविकता है और ऐसा होने से किसी प्रकार की हानि की भी सम्भावना नहीं रहती।

यह प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि योग के आठ अंग स्वीकार किये गए हैं। उनमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम—यह चार अंग ऐसे हैं, जिनका पालन करना मनुष्य मात्र के लिए लाभकारी सिद्ध होता है। जो लोग सदा इनके अनुसार आचरण करते हैं, उनका सदैव स्वस्थ रहना स्वाभाविक है। यदि रोगाक्रान्त होने पर इनका पालन किया जाय तो प्राकृतिक रूप से रोगों का निवारण स्वतः ही होजाता है।

शरीर और औषधादि की प्राकृतिक समानता

यदि रोग कष्ट साध्य या असाध्य होगया हो तो भी उक्त अंगों की विधियों का पालन करना चाहिए। यह हो सकता है कि लाभ विलम्ब से हो, परंतु होता अवश्य है। फिर भी शीघ्र लाभ के लिए कोई अनुकूल औषधि ली जा सकती है, क्योंकि सभी औषधियों की उत्पत्ति पृथिवी से होती है, इसलिए उनमें पार्थिव अंश की अधिकता है और पार्थिव अंश में भी अन्य भूतों का समावेश रहता है। उसका कारण पृथिवी का पंचभूतात्मिका होना है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में स्पष्ट कहा है—'पंचभूतमया भूमिः सा चेतन समन्विता' अर्थात् 'पृथिवी पंचभूतमयी और चेतन तत्व से युक्त है।'

इससे स्पष्ट होता है कि औषधादि में जो पार्थिवतत्व हैं, उनमें चेतन तत्व का समावेश है, उनमें सो प्राकृतिकता है, वह शरीरधारी के सर्वथा अनुकूल पड़ती है। इसलिए औषधियों के द्वारा भी जीव को आरोग्य और नवजीवन की प्राप्ति होना पूर्णतया सम्भव है।

हमारे पूर्वाचार्यों ने योगाभ्यास का जो महत्व स्वीकार किया है, उससे कम महत्व औषधियों को भी नहीं दिया। उन्होंने योग शास्त्रों के साथ चिकित्सा-शास्त्र की भी रचना की। चरक, सुश्रुत, शार्ङ्गधर आदि प्रसिद्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थ उन ऋषियों की ही देन हैं, जो योग के भी पूर्ण ज्ञाता थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण योगांगों के पूर्वार्द्ध रूप यह यमादि चारों अंग स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं तथा योग की विधियों के उत्तरार्द्ध रूप शेष चार अंग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि श्रेय-प्राप्ति के परम साधन हैं। परन्तु यह भी स्वास्थ्य वृद्धि के कारण ही होते हैं, ह्रास के नहीं।

उक्त सब विधियों को सीख कर पारंगत होने में बारह वर्ष का समय लगता था। प्राचीन आचार्यों ने मनुष्य जीवन की जो चार अवस्थाएँ

मानी थीं—बाल, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध, उनमें बाल्यावस्था इन योग-विधियों को सीखने में बिताने का ही विधान था। इसीलिए उन दिनों रोगों की इतनी भरमार नहीं थी और कभी किसी को कोई रोग हो भी जाता तो वह उसे योग-साधनों और बहुत हुआ तो प्राकृतिक उपचारों से ठीक कर लेता था।

परन्तु, आज के इस भौतिकवादी युग में योग-विद्या के जानकारों की बहुत कमी है। कहीं कोई एकाध योगाचार्य निकल आये तो बहुत बड़ी बात है, अन्यथा यदि कोई मिलता भी है तो उसका ज्ञान अधूरा होता है और जब तक पूरा ज्ञान न हो तब तक उससे लाभ उठाया जाना संभव नहीं।

योग और चिकित्सा शास्त्रों में जीवाणु-कीटाणु विषयक सिद्धान्त की मान्यता

चिकित्सा शास्त्रियों ने मनुष्य शरीर में कृमियों की विद्यमानता स्वीकार की है, जिनके कारण अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। आँतों और पाकाशय में तीन प्रकार के कृमि पाये जाते हैं—(१) सूत के समान पतले, छोटे और चौथाई से १ इंच तक लम्बे, (२) केंचुए के समान ४ से १२ इंच तक लम्बे और गोल, और (३) फीते के समान अधिक लम्बे। इन्हें पाश्चात्य भाषा में क्रमशः स्माल थ्रेड वार्म, लोंग राउण्ड वार्म और टेप वार्म कहते हैं।

प्रथम प्रकार के कृमि मल द्वार के समीप इकट्ठे होकर रहते हैं और कभी-कभी योनि द्वार अथवा मूत्र नली में भी चले जाते हैं, इसीलिए उन उन स्थानों में दाह, खुजली, निद्रा-नाश, श्वास-प्रश्वास में दुर्गन्ध, नींद में दाँत किटकिटाना तथा दस्त के समय बहुत कष्ट होना आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

दूसरे प्रकार के कृमि क्षुद्र आँत में रहते हैं। यह कभी वमन के साथ मुख से और कभी मल के साथ गुद द्वार से निकलते हैं। इनके कारण पेट फूलना और उसमें कड़ेपन के साथ अधिक दर्द, दाँत किटकिटाना, आँवयुक्त मल, अरुचि, मिचली, मुख में पानी भर-भर आना, श्वास-प्रश्वास में दुर्गन्ध, नींद में सहसा चीख उठना, नासिका के अग्रभाग में या गुद द्वार में खुजली, शरीर में कृशता, चेहरे पर पीलापन, नेत्रों की पुतलियों का फैलना आदि लक्षण होते हैं।

तीसरे प्रकार के श्वेत कृमि १० से २०० फीट तक लम्बे होते हैं परंतु इसके टुकड़े-टुकड़े होकर मल के साथ निकलते हैं। इसका स्थान भी छोटी आँत ही है। इनके अतिरिक्त मनुष्य के रक्त में भी अनेक प्रकार के क्रमि मिलते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार भी कृमियों के तीन भेद ही प्रमुख हैं, यथा—कफज, रक्तज और पुरीषज। इनमें से प्रथम प्रकार के कृमि दूषित हुए कफ से बड़ी आँत में उत्पन्न होते हैं और व्यापक रूप से अपनी संख्या-वृद्धि करते हुए, समूचे शरीर में फैल कर रोग की वृद्धि करते हैं।

दूसरे प्रकार के कृमि रक्त के दूषित होने पर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होते और गढ़ते हुए समूची रक्त प्रणाली में प्रविष्ट हो जाते हैं तथा तीसरे प्रकार के कृमि उदरस्थ मल के सड़ने से उत्पन्न होते और शीघ्रता से बढ़ते हैं।

इस प्रकार प्रथम प्रकार के कृमियों से व्याप्त हुआ सर्वांग दूषित हो जाता है। दूसरे प्रकार के कृमि दाद, खाज, व्रण, क्षत, खसरा, चेचक, फुंसी आदि चर्म रोगों को उत्पन्न करते हैं और तीसरे प्रकार के कृमि अर्श, ग्रहणी, उदरामय, अपचन, अजीर्ण, मन्दाग्नि, विषूची आदि की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। यह सभी कृमि उदर के अधोभाग में ही रहते हैं, परन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखे जाते हैं।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीन और अर्वाचीन अथवा प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों में मानव शरीर में कृमियों की विद्यमानता से रोगों की उत्पत्ति और वृद्धि का सिद्धान्त पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है। इससे यह कहना निरर्थक होगा कि कृमियों की मान्यता आधुनिक वैज्ञानिकों की ही है।

योगशास्त्र का काम विषयक उदाहरण

और चिकित्सा शास्त्रों में ही क्यों, योगशास्त्रों में भी कृमियों की विद्यमानता अमान्य नहीं की गई है। उनके अनुसार अनेक आसनों, मुद्राओं या प्राणायामों द्वारा कृमियों को नष्ट किया जा सकता है। योग-कुण्डल्युपनिषद् में सूर्यभेद कुम्भक के वर्णन में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है, यथा—

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।
यथेष्ठं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडिया ततः॥
कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥

अर्थात्—दाँयी नाड़ी से वायु को धीरे-धीरे खींच कर जितना भर सके, उतना भीतर भरले और फिर इडा (बाँयी नासा) के द्वारा उसका रेचन करे, कपाल-शोधन की क्रिया में भी वायु को इसी प्रकार धीरे-धीरे निकाले। इससे चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष आदि नष्ट होते हैं।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होजाता है कि शरीर में कृमियों अथवा रोग-कीटाणुओं की विद्यमानता से योगाचार्य भी इंकार नहीं करते। और यह प्रत्यक्ष ही है कि यक्ष्मा, कुष्ट, चेचक, विषूचिका, मलेरिया प्रभृति रोगों में स्पर्शाक्रमक और संक्रामक दोनों ही प्रकार के लक्षण मिलते हैं। इनमें यह परामर्श दिया जाता है कि रोगी के व्यवहार में आने वाले वस्त्र

और बर्तन आदि के स्पर्श से बचा जाय। अन्यथा रोग के जीवाणु स्वस्थ शरीर में भी प्रविष्ट होकर रोगी बना सकते हैं।

रोगी से स्पर्श होने वाली अन्यान्य वस्तुओं के सहारे भी, जैसे कि चिट्ठी-पत्री, नोट आदि से भी दूसरे लोगों पर रोग का आक्रमण हो सकता है। परन्तु जल, वायु, धूलि-कण, दूध, अन्न, मक्खी, मच्छर, चूहे, आदि के द्वारा भी रोगों का संक्रमण होता है। इसीलिए इसे संक्रामक रोग की संज्ञा दी जाती है।

परन्तु सभी प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ जिन रोगों का उन्मूलन औषधादि उपचारों से भी पूर्णतया नहीं कर पातीं, रोगी के भला-चंगा दिखाई देने पर भी रोग के अंश रूप में उसके जीवाणु या कीटाणु अवशिष्ट रहे आते हैं, उन्हें योग-क्रियाओं के द्वारा समूल नष्ट किया जा सकता है। प्रथम तो योग के यम, नियम रूप दो अंगों के पालन से वैसे जीवाणु, कीटाणु या कृमियों की उत्पत्ति हो ही नहीं पाती और यदि हो भी जाती है तो आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा आदि साधनों के द्वारा उन्हें पूर्ण रूप से निःशेष किया जा सकता है। जो लोग योगाभ्यास करते हैं, वे कभी अस्वस्थ नहीं होते, और जो अस्वस्थ होते हैं उनके अभ्यास में अवश्य ही कोई कमी रह जाती है, ऐसी मान्यता योग शास्त्रों की है। इसलिए योग विधियों का तत्परता से पालन किया जाय तो रोग-जीवाणु और कीटाणु आदि का उत्पन्न न होना या नष्ट होजाना निश्चित है।

पंचकोशों के लक्षण

योग-चिकित्सा के लिए शरीर में स्थित पंचकोशों का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है। यह कोश हैं—(१) अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनका लक्षण क्या है? इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

स्थूल शरीर को अन्नमय कोश मानते हैं, क्योंकि माता-पिता द्वारा खाये हुए अन्न से जो रज-वीर्य उत्पन्न होता है, उसी से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न होने पर अन्न से ही शरीर की वृद्धि होती है तथा अन्न से ही जीवन चलता है। अन्त में जब मृत्यु होती है तब वह जीव अन्न के ही हेतु रूप पृथिवी में लीन हो जाता है। इसीलिए स्थूल शरीर को अन्नमय कहते हैं।

अन्नमय कोश को ही सुख-दुःख के अनुभव रूप भोग का स्थान मानते हैं। जन्म से पूर्व और मरण के पश्चात् इस स्थूल शरीर का अभाव होता है। इस प्रकार रज वीर्य से उत्पन्न होने के कारण इसका अन्नमय होना सिद्ध है। क्योंकि शरीर को हृष्टपुष्ट, स्वस्थ और सुन्दर बनाने में अन्न ही कारण है।

पंच कर्मेन्द्रियों (हाथ-पाँव आदि) के सहित पंचप्राण को प्राणमय कोश कहते हैं। पंचप्राण में जो प्रमुख प्राण है, वह एक दिन-रात्रि में २१६०० श्वासोच्छ्वास रूप क्रिया करता रहता है। परन्तु श्वासोच्छ्वास की इस गणना में शरीर एवं अवस्था आदि के भेद से कमी-वेशी भी होजाती है।

अन्य प्राण भी मुख्य प्राण के ही रूप हैं। स्थान और कार्य के भेद से वह विभाजित होकर पृथक्-पृथक् भेद धारण कर लेता है। सुषुप्ति में जब सभी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सो जाते हैं, उस अवस्था में भी प्राण जागता रहता और अपने विभाग के अनुसार कार्यों को करता रहता है।

इन्द्रियादि के विकृत होने या नष्ट होने पर तो प्राणी जीवित रह सकता है। जैसे कि चक्षु इन्द्रिय के न होने पर अंधा होजाय या कानों के न रहने पर वहरा हो जाय, परन्तु जीवन बचा रहता है। इसके विपरीत यदि प्राण निकल जाता है तो उसके बिना जीवित नहीं रह

सकता, इसलिए प्राण को ही जीवन समझना चाहिए। यदि प्राण की गति नियमित रहती है तो कभी कोई रोग उत्पन्न नहीं हो सकता।

पंच ज्ञानेन्द्रियों के सहित जो मन है, वही मनोमय कोश है। शरीर के प्रति अहंभाव और गृहादि के प्रति ममता रूप अभिमान को करने वाला तथा इन्द्रिय द्वारा बहिर्गमन करने वाला मन ही काम-क्रोधादि वृत्तियों से सम्पन्न होने के कारण अनियमित (चंचल) स्वभाव का और विकारी होता है। यदि मन को वश में रखकर आहार-विहार को नियमित रखा जाय तो शरीर पूर्ण स्वस्थ बना रहता है।

विज्ञानमय कोश पंच ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि ही है। वह चिदाभास युक्त बुद्धि सुषुप्ति में विलीन हो जाती है और जागृति में नख-शिख तक सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती हुई कर्ता रूप बनी रहती है, इस कारण वह विलय आदि की अवस्था वाली होने के कारण नाशवान समझनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि बुद्धि यदि श्रेष्ठ कर्मों में रहे तो उसमें विकार नहीं आ सकता।

अब आनन्दमय कोश पर भी प्रकाश डालते हैं—जब पुण्यरूप कर्मफल का अनुभव करती हुई बुद्धि अन्तर्मुखी होकर, आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर उसकी आराधना करती है तथा जिसे प्रिय मोद, प्रमोद रूप कहते हैं, वह वृत्ति पुण्यकर्मफल के भोग की निवृत्ति होने पर निद्रा रूप से लीन हो जाती है, वही वृत्ति आनन्द-मय कोश कहलाती है।

प्रिय, मोद और प्रमोद वृत्तियां

प्रिय वृत्ति, मोद वृत्ति और प्रमोद वृत्ति क्या हैं? यह भी बताना आवश्यक है। यदि इस कोश की तुलना एक पक्षी से करें तो इसका मस्तक इष्ट वस्तु के दर्शन से उत्पन्न होने वाली प्रिय वृत्ति होगा। दक्षिण पंख इष्ट वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न वृत्ति मोद वृत्ति कही

जायगी और वाम पक्ष इष्ट वस्तु के भोग से जो वृति होगी, उसे प्रमोद वृति कहेंगे। इस प्रकार उक्त प्रकार की तीनों वृतियों का भोक्ता ही आनन्दमयकोश है और इसकी उपलब्धि ही परमानन्द की प्राप्ति है। यही उसकी अन्तिम अवस्था है।

यदि बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बित रूप से स्थित आनन्दमय कोश की उपलब्धि आनन्द रूप से हो और वह आनन्द नित्य आनन्द हो तो वह आत्मा ही है। परन्तु यदि यह इस प्रकार अनुभव में नहीं आता तो वह कोश रूप अनात्म ही समझा जायगा। इसलिए पंचकोशों से भिन्न आत्मा का अनुभव ही सत् चित् आनन्द स्वरूप है, वही आत्मा है, उसमें कोई रोग या विकार कभी रह ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ आनन्द है, वहीं पूर्ण आरोग्य रहता है।

इस प्रकार पंचकोशों का ज्ञान होने पर यह स्पष्ट होजाता है कि शरीर को स्वस्थ एवं निरोग रखने के लिए प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सभी को नियमित-नियत्रित रखना चाहिए। क्योंकि इसी से विचारों का शुद्ध रहना संभव है।

पंचकोशों में प्रारम्भिक दो कोश प्रायः हठयोग और शेष तीन कोश राजयोग में साधन स्वरूप समझे जाते हैं। इनके द्वारा शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि की शुद्धि का उद्देश्य स्पष्ट है। इसलिए पाँचों कोशों का विशुद्ध किया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। हठयोग में इनके प्रति पूर्ण सतर्कता बर्तने का निर्देश है।

षट्कर्म द्वारा शरीर एवं कोश-शोधन

उक्त कार्य के साधन रूप में योगशास्त्रों में वर्णित षट्कर्म, योगासन प्राणायाम आदि बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। शरीर में तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त, कफ। उनका शोधन योग-क्रियाओं द्वारा सहज ही हो सकता है, जैसे कि वस्ति कर्म से वात दोष नौलि कर्म से पित दोष और धौति कर्म से कफदोष का शोधन और निवारण होता है।

कोशों के शोधन का सामान्य उपाय यह है कि यम, नियम का पालन करते हुए षठ्कर्मों को नियमित रूप से करे तथा आसनों का अभ्यास करे तो अन्नमय कोश रूप शरीर का विशुद्धिकरण (प्यूरीफिकेशन) होता है।

प्राण-क्रिया या उनकी गति को नियमित रखने से प्राणायाम कोश स्वस्छ रहता है। योग शास्त्रों में इसका प्रभावकारी उपाय प्राणायाम का नियमित अभ्यास करना ही माना गया है। इससे पंच कर्मेन्द्रिय स्वस्थ एवं सबल होती है।

मनोमय कोश की शुद्धि के लिए यम नियमों का आचरण अत्यन्त प्रभावोत्पादक उपाय है। मन और पंचज्ञानेन्द्रिय का नियन्त्रित रहना इन्हीं पर निर्भर है। मन की चचलता दूर करने का प्रमुख उपाय विषयों से अनाशक्ति रखना है, जो कि यम-नियम के पालन से स्वतः सिद्ध हो जाता है।

विज्ञानमय कोश को विशुद्ध रखने के लिए विचारों में स्वच्छता और दृढ़ता की आवश्यकता होती है जिसका आधार योग ग्रन्थों में वर्णित सम्प्रज्ञात समाधि है।

आनन्दमय कोश सांसारिक जीवन में परम उपलब्धि रूप अन्तिम कोश है। इसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। परंतु, यदि अन्य कोशों की शुद्धि नहीं होती तो इसका मलावरण हटना भी असंभव होता है। इसके लिए असम्प्रज्ञात समाधि और आत्मज्ञान आवश्यक है।

उक्त वर्णन में हमने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा की है, इसलिए प्रसंगवश इनके स्वरूप पर प्रकाश डालना भी उचित प्रतीत होता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग-दर्शन के समाधि पादमें इनका वर्णन इस प्रकार किया है—

'वितर्क विचारानंदास्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः' अर्थात्, 'वितर्क, विचार, आनंद, और अस्मिता के संबंध से संम्प्रज्ञात योग होता है।' इस

सूत्र में वितर्कादि के संबंध से होने वाली इस संप्रज्ञात समाधि के चार भेद माने गए हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत। इनमें से प्रथम भेद स्थूल पंचभूतों और इंद्रियों की भावना के आधार पर आधारित है और राम, कृष्ण, दुर्गा आदि साकार देवताओं के ध्यान में तन्मयता रहती है।

विचारानुगत भेद में सूक्ष्म पदार्थ रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श के भावनात्मक विचार के माध्यम से तन्मयता होती है। आनन्दानुगत में विचार-शून्यता होकर केवल आनन्द का अनुभव होता है। जबकि अस्मितानुगत में आनन्द भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बताने के पश्चात् अगले सूत्र (१।१८) में असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण बताते हैं—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' अर्थात् 'इसकी पूर्वावस्था विराम प्रत्यय है और चित्त की स्थिति संस्कार मात्र ही शेष रहती है।'

इसका तात्पर्य यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च स्थिति विवेक ख्याति है, जिसमें चित्त और पुरुष में भिन्नता का विवेक ज्ञान होता है, परन्तु यह भी चित्त की वृति मात्र ही है। इस वृत्ति की भी तृष्णा का त्याग 'पर वैराग्य' है, जिससे विवेक ख्याति रूपी अन्तिम वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसे विराम प्रत्यय भी कहते हैं।

चित्त की चार अवस्थाएँ

चित्त की चार अवस्थाएँ मानते हैं—व्युत्थान, समाधिप्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध। व्युत्थानोत्पन्न संस्कार समाधि के प्रारम्भ होने वाले संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। फिर वे संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न संस्कारों द्वारा नाश को प्राप्त होते हैं और एकाग्रता से उत्पन्न संस्कारों का नाश निरोध-संस्कारों से हो जाता है। इसी अवस्था को विराम

प्रत्यय कहते हैं यह निरोध-संस्कार शेष माने गए हैं और यही असम्प्रज्ञात समाधि है।

योग-चिकित्सा में योग की उक्त वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का आधार प्रमुख रूप से है। योग शास्त्र की दो शाखाएँ प्रमुख हैं—हठयोग और राजयोग यह दोनों ही यौगिक चिकित्सा पद्धति में भी अपना महत्व-पूर्ण योग-दान करते हैं। इसलिए योग के आठों अंगों को योग-चिकित्सा के प्रमुख आधार स्तम्भ समझने चाहिए।

योग क्रियाओं के द्वारा पाचन संस्थान को पूर्ण रूप से नियमित रखा जा सकता है, जिससे उदर विकारों का शमन स्वाभाविक है। योगाभ्यासियों को प्रथम तो वैसे विकार होते ही नहीं यदि होते भी हैं तो उनको योग की विशिष्ट क्रियाओं द्वारा नष्ट करने में कठिनाई नहीं होती।

श्वास संस्थान के विकार, आनुवंशिक रोग, मूत्र संस्थान सम्बन्धी दोष, स्नायु संस्थान की विकृति, नस नाड़ी संस्थान संबंधी विकार आदि पर भी यौगिक क्रियाओं के द्वारा अधिकार पाया जा सकता है।

योग विद्या भारत की प्राचीन विद्या है, जिसका प्रचार पाश्चात्य देशों में भी हो रहा है। वर्तमान काल में अनेकों विदेशी योग विधियों को सीखने के उद्‌देश्य से भारत में आते हैं। उसका प्रमुख कारण योग विद्या के वे गुण हैं, जो कि मनुष्य को रोग-रहित रखते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि भी कराते हैं।

योगाभ्यास से सरल-साध्य रोगों का वर्णन

यहाँ उन रोगों की सूची देना अधिक उपयोगी रहेगा, जिनका शमन योग-क्रियाओं के द्वारा सरलता से हो सकता है। वैसे योगाभ्यास से कोई भी रोग न तो उत्पन्न होता है और न शेष ही रहता है। फिर भी तीव्र

रोगों के शमन में दीर्घकाल तक अभ्यास की आवश्यकता रहती है। इसलिए अनेक विद्वान् तात्कालिक उपचार के लिए अन्य पद्धतियों के आश्रय का भी परामर्श देते हैं। सरल-साध्य रोगों की सूची निम्न प्रकार है—

(१) सम्पूर्ण वात रोग—पक्षाघात, आमवात, धनुर्वात, वातज शूल, अंगों में अकड़न या टेढ़ापन, कटि-पीड़ा आदि।

(२) अनेक प्रकार के ज्वर—मलेरिया, फ्लू, म्यादी, मौक्तिक, चञक क्षय की प्रारम्भिक अवस्था, पाण्डु आदि।

(३) कफज विकार—कास, श्वास, शिरशूल, भ्रू-शूल, प्रतिश्याय नजला, पीनस आदि।

(४) उदर विकार—मलावरोध, अतिसार, उदर शूल (कौलिक), शूल, अजीर्ण, मन्दाग्नि, तीव्राग्नि, अम्ल (ऐसीडिटी), गैस, अरुचि आदि।

(५) कण्ठ-रोग—श्वास-प्रश्वास में कठिनाई, छाले, दर्द, रोहिणी, कैंसर, टौंसिल आदि।

(६) पित्त रोग—कण्ठशोष, मुखशोष, दौर्गन्ध्य, विदाह, स्वेद-स्राव, रक्तस्राव, पीत मूत्रता, पीत दन्तता, पीत नेत्रता, पीत नखता, गात्रसाद, मल-मूत्र की उष्णता, नेत्रान्धता, पीतदर्शन आदि।

(७) हृदय रोग—हृदयावसाद, निम्न या उच्च रक्तचाप (ब्लड-प्रैशर), जी घबराना, धड़कना, दौर्बल्य, हृच्छूल आदि।

(८) धातु-विकार—शुक्रस्राव, शीघ्रपात, पुंसत्वहीनता, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अण्डवृद्धि आदि।

(९) स्त्री रोग—प्रदर, मासिक गड़बड़ी, रक्ताल्पता, हिस्टिरिया एवं सौंदर्य-नाश आदि।

(१०) चर्म रोग—दाद, खाज, छाजन, कुष्ट, त्वचा में रूखापन, विवर्णता आदि।

(११) शारीरिक या मानसिक शिथिलता—दुर्बलता, अशक्तता और विस्मृति आदि ।

(१२) दुष्ट व्रण—पृष्ठव्रण, गाण्डमाल, विद्रधि, गृध्रसी, कर्कट, अलसर या अन्यान्य प्रकार के दूषित फोड़े ।

(१३) नेत्ररोग—तिमिर, अधिमंथ, अभिष्यन्द तथा दृष्टि मान्द्य आदि ।

(१४) अर्शादि रोग—वातज अर्श, रक्तार्श, मलमार्ग के अन्य प्रकार के व्रणादि ।

(१५) केश-पलित रोग, बालों का झड़ना, गंजापन, श्रोत्र रोग एवं इसी प्रकार के अन्य रोग ।

उक्त सूची सामान्य तौर पर दी गई है । यदि उन-उन योगांगों का विधिवत् अभ्यास किया जाय और धैर्य रखा जाय तो इन रोगों का शमन होना कोई कठिन कार्य नहीं है । परन्तु उसके लिए उन अंग विशेषों के विषय में ज्ञान होना आवश्यक है । ऐसा होने पर उन क्रियाओं का यथावसर प्रयोग करना सरल होता है ।

अब उन षट्कर्मों के विषय में बताया जाता है, जो कि तीनों दोषों के शमन में उपयोगी हैं । यह सभी कर्म हठयोग क्रिया के आवश्यक अंग माने जाते हैं । योग के प्रमुख ग्रंथों में धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति, यह षट्कर्म माने गए हैं ।

चार प्रकार के धौति कर्म

धौति के चार भेद हैं—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन । यह कर्म उदर शोधन के लिए किया जाता है । हठयोगप्रदीपिका में कहा है—'गुल्मप्लीहोदरं चापि वात पित्त कफोद्भवाः' अर्थात् 'गुल्म, प्लीहोदर आदि रोग तथा वात-पित्त-कफ के कुपित होने से उत्पन्न हुए सभी रोग धौतिकर्म से नष्ट होजाते हैं ।

अन्तर्धौति के चार प्रकार

अन्तर्धौति भी वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृति के भेद से चार प्रकार की है। प्रथम वातसार धौति में दोनों ओष्ठों को कौए की चोंच के समान करके बाहर से धीरे-धीरे वायु को खींच कर पीवे और जब वह वायु उदर तक पहुंच कर भर जाय तब उदर में उसका परिचालन करके धीरे-धीरे निकाल दे। इससे देह स्वच्छ और पूर्ण निरोग होकर जठराग्नि तीव्र होती है।

वारिसार धौति में मुख से धीरे-धीरे जल पीता हुआ कण्ठ तक भर ले और फिर उसे परिचालित कर अधोमार्ग से निकाल दे। इससे शरीरस्थ मल दूर होकर तेजस्विता आती है। इसी से 'देवदेहं प्रपद्यते' कह कर शास्त्रों ने दिव्य शरीर की प्राप्ति का होना प्रतिपादित किया है।

अग्निसार अन्तर्धौति में प्राणवायु को अवरुद्ध करके मेरु के पृष्ठ भाग में लगाया जाता है। इससे भी शरीर का अत्यंत तेजस्वी होजाना कहा गया है।

बहिष्कृत अन्तर्धौति में भी काफी मुद्रा (कौए की चोंच के समान ओष्ठों की आकृति) द्वारा वायु पीते हुए उदर तक भर ले और डेढ़ घंटे तक उदर में रोके और परिचालित करता हुआ अधोमार्ग से निकाल दे। इससे सम्पूर्ण उदर रोगों का नाश होजाता है।

बहिष्कृत धौति का एक भेद प्रक्षालन कर्म भी है। इसमें नाभि पर्यन्त जल में खड़े होकर शक्ति नाड़ी अर्थात् त्रिवली को बाहर निकाले और उसे भले प्रकार धोकर स्वच्छ करले तथा हाथों से घृत लगा कर त्रिवली को पुनः उदरस्थ कर ले। इससे भी शरीर अत्यंत स्वच्छ, निरोग और दिव्य होजाता है। परंतु, यह कर्म बहुत कठिन है, किसी अनुभवी गुरु से सीखे बिना कभी न करे।

दन्तधौति के चार प्रकार

दन्तधौति के भी चार भेद हैं—दंतमूल, जिह्वामूल, कर्णरंध्र और कपाल रन्ध्र। यह कर्म शरीर के ऊर्ध्व अंगों के शोधनार्थ निश्चित किये गए हैं। इनमें दाँतों की स्वच्छता के लिए दन्तधौति, जिह्वाशोधन के लिए जिह्वाधौति, कानों के छिद्रों को मल-रहित करने के लिए कर्णरन्ध्र धौति और कपालरन्ध्र के शोधनार्थ कपालरन्ध्र धौति का विधान है। इनकी विधि इस प्रकार है—

दन्तमूल धौति में खदिर (कत्था) के रस या चूर्ण से दन्तमार्जन किया जाता है। खदिर चूर्ण में मृत्तिका या खड़िया का चूर्ण भी मिला सकते हैं। अथवा नीम या बंबूल आदि की दाँतुन करनी चाहिए। यह क्रिया नित्यप्रति प्रातःकाल करनी चाहिए। इससे दाँतों की रक्षा होती है।

जिह्वामूल धौति में तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनों अँगुलियों को गले में डाल कर जीभ की जड़ तक साफ किया जाता है। यह क्रिया उक्त मंजन या दाँतुन करने के बाद करनी चाहिए। इससे कफ दोषों का शमन होता है।

कर्णरन्ध्र धौति में दोनों कानों के छेदों में तर्जनी और अनामिका अँगुलियाँ मिला कर डाली जाती हैं, जिससे कि कर्णरन्ध्रों का मैल साफ होजाय। इसका अभिप्राय यह है कि बाह्य धूलि आदि के भरने से दोनों कानों में मैल बन जाता तथा वह धीरे-धीरे बढ़ कर मोंम जैसे रूप में होजाता है। इससे श्रवणशक्ति तक प्रभावित हो सकती है। लापरवाही बर्तने पर कानों में दर्द होजाना, क्षत या व्रण बन जाना, पीव पड़ कर स्राव होने लगना आदि सामान्य लक्षण होजाते हैं।

कानों का मैल निकालने के लिए अनेक व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो थोड़े-से (दस-पाँच) पैसे लेकर ही जमा हुआ मैल निकाल देते हैं। चिकित्सा शास्त्रों में भी ऐसी अनेक औषधियों का उल्लेख मिलता है, जिनके डालने से मैल फूल कर सरलता से निकल आता है। परन्तु

योगीजन कानों में अँगुलि डाल कर नित्य प्रति छिद्रों को साफ करने के निर्देश से यह बताते हैं कि इस क्रिया से मैल एकत्र नहीं होने पाता।

कपालरन्ध्र धौति में दाँये हाथ के अँगूठे से कपालरंध्र (खोपड़ी के मध्य का वह गढ़ा जिसे कपाल भी कहते हैं) का मार्जन किया जाता है। इसके अभ्यास से कफ-दोष का निवारण और नाड़ी के मल का शोधन होजाता है। इसका अभ्यास सोकर उठते ही प्रातःकाल भोजनोपरांत मध्याह्नकाल और सायंकाल के समय नित्य प्रति करने का विधान है। यह क्रिया तीनों समय नदी के जल में खड़े होकर भी कर सकते हैं।

कपालरन्ध्र के द्वारा सम्पूर्ण शरीर नियंत्रित रहता है, इसलिए इसके शोधन का अत्यन्त महत्व है। बाँये हाथ में जल से भरा हुआ पात्र लेकर उससे कपाल पर जल डाले और दाँये हाथ के अँगूठे या अँगुलियों से उसे रगड़े। ऐसा करने से मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है।

जल-योग से हथेली के द्वारा कपाल-रन्ध्र को रगड़ना भी बहुत उपयोगी रहता है। अथवा किसी (तिल या सरसों के) विशुद्ध तैल से मालिश करनी चाहिए। इस प्रकार कपालरन्ध्र धौति से ब्रह्मरन्ध्र का शोधन होकर अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती और मस्तिष्क सदा शीतल और शान्त बना रहता है।

हृद्धौति के तीन प्रकार

हृद्धौति के तीन भेद हैं—दण्डधौति, वमनधौति और वसन धौति (वासोधौति)। इनके द्वारा हृदय का शोधन होता है, जो कि शरीर की स्वच्छता के लिए परम आवश्यक है।

दण्डधौति की विधि इस प्रकार है कि केले की कोमल डंडी का एक भाग अथवा हरिद्रा या बेंत का एक भाग लेकर मुख मार्ग द्वारा हृदय के मध्य बार-बार घुसा कर धीरे-धीरे निकाले। इससे कफ, पित्त, क्लेदादि मल का मुखद्वार से रेचन होता है।

इस डंडे के विषय में अनुभवी व्यक्तियों का मत है कि इसके लिए कोमल पोधे का लगभग १ सेंटीमीटर मोटा और ६० सेंटीमीटर लम्बा एक डंडा लेकर चाकू से छीलकर साफ करे और जल या दूध में एक दिन-रात भिगोये रखे। तत्पश्चात् पोंछकर उस पर गाय का मक्खन चुपड़ कर मुख में घुसाकर पेट की ओर धीरे-धीरे दबावे। इस प्रकार डंडे का पौना भाग भीतर पहुँच जाय, चौथाई भाग बाहर रहे, तब धीरे-धीरे बाहर निकाल ले। अनेक बार ऐसा अभ्यास करने से दण्ड-धौति की क्रिया सिद्ध होती है।

वमन द्वारा उदर-शोधन

वमनधौति में भोजन के पश्चात् जल पीता हुआ कण्ठ पर्यन्त भर ले और ऊपर की ओर देखता हुआ क्षणभर बाद वमन द्वारा उस जल को निकाल दे। इससे कफ पित्त का निवारण होता है।

यदि जल पीने मात्र से वमन न हो तो नमक मिले हुए जल का प्रयोग करे। जल इतना पीवे कि उदर से कण्ठ तक भर जाय। इसके लिए बलाबल के अनुसार दो से पाँच सेर तक जल में तीन से छः माशे तक नमक मिलाकर पीना चाहिए।

जैसे ही जल भर जाय, वैसे ही हाथ की २-३ अँगुलियों को जिह्वा मूल तक घुसाकर धीरे-धीरे रगड़े तो इससे उदरस्थ जल सरलता पूर्वक बाहर निकल आता है। इस क्रिया का उद्देश्य खाये हुए अन्न के निरर्थक स्थूल अंश को निकाल कर उदर की सफाई करना ही है। क्योंकि इस क्रिया के परिणाम स्वरूप उदर का कड़ापन, शोथ या मलावरोध आदि विकार दूर होते और कफ या पित्त के विकारों का भी शमन होता है।

वसनधौति या वासोधौति वस्त्र से बनाई जाती है। महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी और पंद्रह हाथ लम्बी पट्टी लेकर मुखमार्ग से

धीरे-धीरे निगले और धीरे-धीरे ही बाहर निकाले । प्रारम्भ में पट्टी की लम्बाई एक हाथ ही रहे, जो कि अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते पन्द्रह हाथ तक बढ़ाले ।

इस क्रिया से गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ट और कफ-पित्त के विकार दूर होते हैं । यह आरोग्य बल और पुष्टि की दिनोंदिन वृद्धि करती हुई शरीर को अत्यन्त तेजस्वी बनाती है ।

मूल शोधन-विधि

मूलशोधन की क्रिया योगशास्त्रियों ने अत्यन्त आवश्यक मानी है । तव तक शरीर में आलस्य और भारीपन रहेगा और धीरे-धीरे अनेक विकार उत्पन्न हो जाँयगे ।

हरिद्रा की जड़ अथवा मध्यमा अँगुलि के द्वारा जलयोग से गुदद्वार के भीतरी भाग का बार-बार प्रक्षालन करना चाहिए । आयुर्वेद के अनुसार भी हल्दी निर्विषैल और विष को दूर करने वाली मानी गई है । रक्तशोधन होने के कारण यह चर्म-विकारों को भी दूर करती है । मूलशोधन में इसी अभिप्राय से हरिद्रा का प्रयोग होना कहा गया है । यह कर्म कोष्ठ काठिन्य तथा आमाजीर्ण आदि को दूर कर जठराग्नि को प्रदीप्त करता है ।

हल्दी की जड़ कोमल लेनी चाहिए । अथवा उसका चूर्ण कर जल में मिलाकर उससे प्रक्षालन करे । अनेक विज्ञपुरुष हल्दी को जौकुट करके अग्नि पर क्वाथ बनाकर प्रयोग करना अधिक हितकर मानते हैं । इससे गुदमार्ग के व्रण, अर्श आदि का भी शमन होता है । हल्दी के अभाव में केवल जल से बीच की अँगुलि द्वारा प्रक्षालन किया जा सकता है ।

वस्ति कर्म के दो प्रकार

वस्ति कर्म एक प्रकार का यौगिक एनीमा है। यह जलवस्ति और शुष्क वस्ति के भेद से दो प्रकार की है। जलवस्ति में नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन लगाकर बैठने और गुह्यदेश के आकुंचन-प्रसारण करने का निर्देश है। इससे प्रमेह, उदावर्त, क्रूरवात, गुल्म, पीहोदर एवं वात-पित्त-कफ के दोष आदि का निवारण होकर शरीर कामदेव के समान, सुन्दर, स्वच्छ और सुरूपवान होता है।

जल में नाभि पर्यन्त बैठने का कार्य किसी नदी, सरोवर अथवा बड़े टब में किया जा सकता है। गुदा के मध्य बाँस की एक ऐसी नली, रखे, जिसके छेद में कनिष्ठिका अँगुली सरलता से प्रविष्ट हो सके। यह नली छः अंगुल लम्बी हो, जिसका चार अंगुल भाग गुदा में प्रविष्ट होजाय और दो अंगुल बाहर रहे। इस प्रकार की क्रिया उत्कटासन के साथ ही की जानी चाहिए, जो कि अपने नितम्बों को ऊँचा उठाकर पाँवों की अँगुलियों के बल बैठने से बनता है।

चिकित्सा शास्त्रियों द्वारा दिया जाने वाला 'टब स्नान' जलवस्ति का ही एक रूप है और वे भी उसे उदर रोगों के शमन में ही अधिक उपयोगी मानते हैं।

वस्ति के दूसरे भेद स्थलवस्ति में अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा के आकुंचन-प्रसारण का निर्देश है, जो कि पश्चिमोत्तान आसन से बैठ कर की जाती है। इनमें पश्चिम का अभिप्राय पृष्ठ भाग और उत्तान का अभिप्राय ऊपर की ओर उठाना या फैलाना है। तात्पर्य यह कि शरीर के पृष्ठभाग को ऊपर की ओर खींचने या तानने से पश्चिमोत्तान आसन होता है। इसके साथ नीचे के भाग में वस्ति का परिचालन करना चाहिए।

यह क्रिया कोष्ठ शुद्धि में अत्यन्त प्रभाव करने वाली है। इससे गठिया (आमवात) जैसे रोग दूर हो जाते या उत्पन्न नहीं होती।

इसलिए योगियों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए यह क्रिया भी आवश्यक बताई गई है।

नेति-कर्म के अनेक भेद

नेति कर्म से नासिका की शुद्धि के साथ नाक, कान, नेत्र, मस्तिष्क और कफ दोषों की निवृत्ति तथा दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होना कहा है। आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में घुसावे और मुख के द्वारा बाहर निकाल दे।

सूत्रनेति, जलनेति, दुग्धनेति, तैलनेति या घृतनेति आदि के रूप में नेति भी अनेक प्रकार की होती है। साधक के बलाबल और अवस्था को देखकर ही इनमें से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सक भी उक्त रोगों के शमनार्थ इस क्रिया का प्रयोग करते हैं। परन्तु वे सूत्र के स्थान पर रबड़ का कैथेटर काम में लाते हैं।

लौलिकी कर्म

जठरानल के उद्दीपनार्थ योगाभ्यासी पुरुष लौकिक कर्म का प्रयोग करते हैं। इसे नौलिकर्म भी कहते हैं। इसमें उदर को अत्यन्त वेग से दोनों पार्श्वों में घुमाया जाता है। इससे सभी प्रकार के उदर नष्ट हो जाते हैं।

दिव्यदृष्टिदाता त्राटक

नेत्र दोषों के निवाणार्थ और तीक्ष्ण दृष्टि की प्राप्ति के लिए त्राटक कर्म का विधान है। इनमें निमेष-उन्मेष को तब तक रोक कर लक्ष्य पर दृष्टि रखी जाती है, जब तक कि नेत्रों से अश्रुपात न होने लगे।

इस कर्म में किसी लक्ष्य वस्तु को टकटकी लगाकर देखना होता है, इसके साथ ही यदि चित्त की भी एकाग्रता रहे तो अनुपम लाभ होता है। 'निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः' (हठयोग प्रदीपिका) से यह और भी पुष्ट होजाता है।

नेत्र-दृष्टि को लक्ष्य पर स्थिर करने का अभ्यास नेत्रों में अत्यन्त तेज की वृद्धि करता है। योगाचार्यों ने तो इस साधन से दिव्य दृष्टि की उपलब्धि होना माना है। यह क्रिया देखने में जितनी सरल है, फल में उतनी ही आश्चर्य प्रद है।

तीन प्रकार को कपालभाति

कफ विकारों के शमनार्थ कपालभाति की क्रिया की जाती है, अनेक आचार्य इसके तीन प्रकार मानते हैं—वातक्रम, व्युत्क्रम और शीतक्रम। कुछ लोग इसे भालभाति भी कहते हैं। इसके द्वारा फुफ्फुसों में शुद्ध वायु पहुँचाने का कार्य लिया जाता है। योग-शास्त्रों में कहा है—

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।।

अर्थात्—लोहकार (लोहार) की भस्त्रा के समान संभ्रम से अथवा एक बार बहुत शीघ्रता-पूर्वक रेचक-पूरक प्राणायाम करना कपालभाति कहलाता है। यह कर्म कफदोष को नष्ट करने वाला है।

अब वातक्रमादि तीनों प्रकारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है—

वातक्रम कपालभाति में इडा नाड़ी (बाँये नासा छिद्र) के द्वारा वायु भरे और पिंगला नाड़ी (दाँये नासा छिद्र) से निकाले दे। फिर दाँये छिद्र से भर कर बाँये से निकाल दे। परन्तु इस क्रिया में जल्दी न करे, यह कपालभाति कफ दोषों को दूर करती है।

व्युत्क्रम कपालभाति में नासिका के दोनों छेदों के द्वारा जल खींचे और मुख के द्वारा निकाल दे। फिर मुख से जल खींच कर नासिका-छिद्रों से निकाले। ऐसा करने से नासिकारन्ध्रों और मार्गों की स्वच्छता होती है। इससे कण्ठ और मुख का शोधन होता है और कफज विकार नष्ट हो जाते हैं।

शीतक्रम कपालभाति में शीत्कार करते हुए मुख के द्वारा जल ग्रहण करे और नासिका के द्वारा निकाल दे। यह अभ्यास यद्यपि कुछ कठिन है, परन्तु प्रयत्नपूर्वक साधन करने से अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इस क्रिया से शरीर की सुन्दरता बढ़ती है और बुढ़ापा नहीं व्यापता। इस प्रकार शरीर स्वच्छ होकर कफदोष मिट जाता है।

इस प्रकार षट्कर्म की क्रिया शरीर शोधन में अत्यंत उपयोगी होने के कारण दोषज विकारों के शमन में बहुत लाभप्रद सिद्ध होती है। जो लोग निरंतर इन कर्मों को करते रहते हैं, वे रोगों से ग्रस्त नहीं होते।

परंतु, ध्यान रखिए कि योग-सम्बंधी यह सभी क्रियाएँ साधारण दिखाई देने पर भी बार-बार के अभ्यास से सिद्ध होपाती हैं। इसलिए सफलता न मिलने पर निराश नहीं होना चाहिए। वरन् किसी अनुभवी विद्वान् के पास जाकर उनकी देख रेख में अभ्यास करे तो सफलता अवश्य मिलेगी।

किसी कर्म के करने में शीघ्रता कभी न करे, क्योंकि शीघ्रता से हानि हो सकती है। 'जल्दी काम शैतान का' इस लोकोक्ति के अनुसार भी जो कर्म किया जाय, वह धीरे-धीरे ही करना चाहिए। इससे अभ्यास में कुछ कष्ट भी नहीं होता और न कठिनाई ही प्रतीत होती है।

यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी योग-क्रिया शारीरिक बल और आयु के अनुसार करनी चाहिए। जो क्रिया, जब उपयुक्त प्रतीत न हो, तब उसे न करे, अन्यथा हानि हो सकती है। यह भी उचित है कि अल्प बल में कोई क्रिया अल्प समय तक की जाय और शक्ति अधिक हो तो वही क्रिया देर तक की जा सकती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए देश-काल की भी उपेक्षा न करने वाला साधक अपने उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य ही सफलता प्राप्त कर सकता है।

योगशास्त्रों और चिकित्साशास्त्रों में अनेक स्थल पर शरीर-सम्बंधी समानता दृष्टिगोचर होती है, भेद केवल क्रिया का ही है क्योंकि योग में शारीरिक क्रियाओं द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा और रोग-निवारण होता है, जबकि चिकित्सा शास्त्र विभिन्न औषधियों के प्रयोग का विधान करता है ।

जीवनदाता चन्द्रामृत

स्नेहन कफ का वर्णन करते हुए यह बताया जा चुका है कि मस्तिष्क से एक स्राव होता है, जिसे अमृत, सोम अथवा तर्पक कफ भी कहते हैं । इसके द्वारा शरीर की सभी ग्रन्थियों का पोषण होता है । परन्तु इसकी क्रिया में दोष उत्पन्न होने पर अनेक रोगों का उदय हो सकता है ।

योग शास्त्रों के अनुसार सहस्रार से जो अमृत का स्राव टपकता है, उसे उदर में जाने से रोकना आवश्यक है । क्योंकि उसके जठराग्नि में गिरने पर अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं । ब्रह्मस्थान या ब्रह्मरन्ध्र में एक अमृतवर्षिणी नाड़ी का उल्लेख मिलता है, जो एक प्रकार का स्राव किया करती है । 'नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्' (शिव संहिता) अर्थात् 'सहस्रदल कमल से स्रवित होने वाले अमृत को नाभि में स्थित अग्नि पान कर लेता है ।' इस प्रकार जठराग्नि द्वारा अमृत का ग्राह कर लिये जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु होजाती है ।

योगाचार्यों ने अमृत को जठराग्नि में पड़ने से रोकने के लिए अनेक उपायों की खोज की और उनमें जालन्धर बंध को अधिक उपयोगी पाया, क्योंकि उसमें ठोड़ी को वक्षस्थल से लगाने पर कण्ठशिराजाल का बन्धन होजाता है ।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ दुःखौघनाशने ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुःप्रधावति ।।

अर्थात्—जालन्धर बन्ध के करने में कण्ठ का जो संकोच किया जाता है, उससे अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और वायु भी नहीं दौड़ता (अर्थात् स्थिर होजाता है)।

इस प्रकार जालन्धर बन्ध के करने से वह जीवन दाता महान तत्व नष्ठ होने से बचा रहता है, जिससे मनुष्य के दीर्घायुष्य होने में कोई संदेह नहीं रहता इसकी विधि यथा स्थान लिखेंगे। हठयोग प्रदापिका में इस पर और भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है कि योगियों ने तालुमूल में चन्द्रमा का निवास माना है, जो कि अमृत की वर्षा किया करता है, उस अमृत का अग्नि द्वारा ग्रास कर लेने से अनेक रोग होजाते हैं। यथा—

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतोज्ञेयं न तु शास्त्राथ कोटिभिः॥

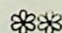
अर्थात्—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिए सूर्य के मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना कोटि शास्त्रों का अर्थ-ज्ञान भी व्यर्थ होता है।

थाइराइड ग्रन्थि का महत्व

शारीरिक शास्त्र के अनुसार गले के मूल भाग में दो ग्रन्थियाँ हैं, उनके द्वारा शरीर की अन्यान्य ग्रन्थियों को भी पोषण मिलता है, जिसके कारण किसी रोग की उत्पत्ति नहीं होपाती। यदि यह ग्रन्थियाँ किसी भी दोष से अपना कार्य ठीक प्रकार नहीं कर पातीं तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होजाते हैं और शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का भी ह्रास होने से आयु घट जाती है।

परीक्षण से यह सिद्ध होचुका है कि 'थाइराइड' ग्रन्थि द्वारा उत्पन्न रस का इंजेक्शन देने से रक्त की कणिकाएँ पूर्ण होजाती है और निर्बल शरीर में बल का पुनः संचार होने लगता है। यदि इन ग्रन्थियों को किसी कारणवश शल्य चिकित्सा के द्वारा पृथक् कर दिया जाता है तो उनसे उत्पन्न होने वाले रस के अभाव में शरीर अनेक रोगों का शिकार होजाता है। उसका प्रमुख कारण यह भी है कि आधुनिक मतानुसार थाइराइड ग्रन्थि के अन्तर्मुखी स्राव में आयोडिन का अधिकांश है, जो कि रक्त के पोषणार्थ अधिक हितकर है। क्योंकि ग्रन्थियों और स्नायुओं को कार्य क्षम रखने में आयोडिन का भारी महत्व स्वीकार किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि योगशास्त्रों ने जिस स्राव को 'अमृत' कहा है, वह वास्तव में शरीर को सदा स्वस्थ और नवजीवन से सम्पन्न रखने में समर्थ है।

इस प्रकार उस स्राव को नष्ट होने से बचाने के लिए योगाचार्यों और चिकित्सा शास्त्रियों ने अपने अपने ढँग से उपायों का निर्देश किया है। इस तथ्य को सिद्धान्त रूप से सभी स्वीकार करते है कि स्वास्थ्य रक्षा और दीर्घायुष्य होने के लिए उक्त रस का ह्रास रोका जाता अत्यन्त आवश्यक है।



आसनों से रोगों की चिकित्सा

योग-चिकित्सा में आसनों का भी बहुत बड़ा योग है। आसन, बन्ध मुद्रा आदि के द्वारा अनेक नये-पुराने, साध्य-असाध्य रोगों का निवारण हो सकता है। यद्यपि इनका अभ्यास योग-साधकों के द्वारा कुण्डलिनी जागरण के लिए भी किया जाता है, जिसकी सफलता से उन्हें अनुपम दिव्य उपलब्धि होती है।

कुण्डलिनी-जागरण उस अन्तिम अवस्था की प्राप्ति में सहायक है, जिसे परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष कहते हैं। यद्यपि इस विषय पर अधिक कहना यहाँ अपेक्षित नहीं है, फिर भी इतना बता देना उपयुक्त होगा कि मानव शरीर में छः चक्रों की विद्यमानता है, जिनका भेदन जाग्रत् हुई कुण्डलिनी के द्वारा होता है। वह कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सोती है, उसका आकार सर्पिणी के समान होता है।

प्राण और अपान के मेलन द्वारा कुण्डलिनी का जागरण होता है। इसकी विधि हठयोगादि शास्त्रों में विस्तार से लिखी मिलती है, परन्तु उन्हें पढ़ने मात्र से अभीष्ट अभ्यास की सिद्धि नहीं होपाती। कोई अनुभवी सिद्ध ही उसका पूर्ण ज्ञान दे सकता है। जाग्रत् हुई कुण्डलिनी षट्-चक्रों को वेधती हुई सहस्रार में पहुँच कर शिव रूप आत्मा से संयुक्त होती हुई मोक्ष की अवस्था का कारण बनती है।

आसनों की वही क्रियाएँ मनुष्य के स्वास्थ्य को स्थायी रखने में बड़ी सहायता देती हैं। उनका अभ्यास करने से कोई रोग उत्पन्न नहीं हो पाता। अनेक योगशास्त्री आसनों के द्वारा रोगों का उपचार किया करते हैं और उससे रोगी को वांछित लाभ भी हो जाता है। आसनों का मुख्य उद्देश्य रीढ़ की हड्डी को कोमल और लचीली बनाने के उद्देश्य से स्नायु और मसल को सुदृढ़ बनी रहने देना है।

चिकित्सा का तीन कोर्सों में विभाजन

योग-चिकित्सा के कोर्स को तीन भेदों में विभाजित कर सकते हैं— (१) सरल कोर्स, (२) संक्षिप्त कोर्स और (३) पूर्ण कोर्स। सरल कोर्स में ऐसे आसनों का प्रयोग किया जाता है, जिनके अभ्याभ में कठिनाई नहीं होती। संक्षिप्त कोर्स में ऐसे आसनों का अभ्यास कराया जाता है, जो अधिक कठिन न होते हुए भी रोग-ग्रस्त अंगों पर सामयिक प्रभाव

डालने में उपयोगी होते हैं। तीसरे प्रकार के पूर्ण कोर्स में कठिनाई से किये जाने वाले आसनों के अभ्यास का भी समावेश हो सकता है और यह अभ्यास अधिक दिनों तक किया जाना भी आवश्यक होता है।

सरल कोर्स सामान्य रोगों के लिए ही अधिक उपयोगी रहता है। जटिल रोगों के लिए पूर्ण कोर्स की आवश्यकता होती है। जिन रोगों में तात्कालिक उपचार (फर्स्ट एड) की अपेक्षा होती है उनके लिए संक्षिप्त कोर्स दिया जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि सरल या संक्षिप्त कोर्स देने के पश्चात् कठिन कोर्स दिया ही न जाय। वरन् एक कोर्स से समुचित लाभ न होने पर अन्य कोर्स तो दिया ही जा सकता है। साथ ही आवश्यक होने पर बलाबल और वय के अनुसार उनमें अन्य क्रिया-विधियाँ भी अपनाई जा सकती हैं।

सरल कोर्स में व्यवहृत आसन

सरल कोर्स में यद्यपि आसन के गुणानुसार कोई भी सरल आसन प्रयोग में लाया जा सकता है। फिर भी कुछ आसनों की सूची यहाँ दी जाती है, जो अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं—

(१) शवासन, (२) सुखासन, (३) पद्मासन, (४) वज्रासन, (५) शलभासन, (६) भुजंगासन या सर्पासन, (७) सिद्धासन (८) उत्तान हस्तासन, और (९) योगासन। आवश्यकतानुसार अन्य आसनों का प्रयोग भी कर सकते हैं।

संक्षिप्त कोर्स में व्यवहृत आसन

संक्षिप्त कोर्स में भी उक्त आसनों का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु उन्हें अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए प्राणायाम की सरल विधियों का प्रयोग भी कर सकते हैं। गहरे श्वास-प्रश्वास के द्वारा भी

क्रिया विधि अधिक क्रियात्मक बनाई जा सकती है । इस विधि में रेचक और पूरक तो किया जाता है, परन्तु कुम्भक की आवश्कयता नहीं होती, यह ध्यान रहे कि रेचक से आधा समय पूरक में लगाया जाता है ।

इस कोर्स में व्यवहृत अन्य आसन यह हैं–(१) भद्रासन (२) सिंहासन, (३) गोमुखासन, (४) स्वस्तिकासन, (५) पश्चिमोत्तानासन, (६) गुप्तासन, (७) मत्स्यासन, (८) सर्वांगासन, (९) कूर्मासन, (१०) उत्कटासन, और (११) वृक्षासन आदि ।

पूर्ण कोर्स में व्यवहार योग्य आसन

यदि उचित हो तो उक्त दोनों कोर्सों में उल्लिखित किसी आसन का प्रयोग किया जा सकता है । अन्यथा उनके अतिरिक्त निम्न आसन भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं—

[१] विकटासन, [२] पृष्ठबद्ध विकटासन, [३] एकपाद कटिआसन [४] पाद शिरासन, [५] भूमिपाद शिरासन, [६] शीर्षासन,[७] उत्थित जानु शीर्षासन, [८] विहंगासन, [९] विस्तृत हस्त पादांगुष्ठासन, [१०] उत्थित हस्त पादांगुष्ठासन, [११] विमानासन, [१२] एकपाद जानु स्पर्शासन, [१३] पृष्ठबद्ध जानु स्पर्शासन, [१४] हस्तपादी चक्रासन, [१५] द्रुत हस्तचालनासन, [१६] हस्त शीर्ष चक्रासन, [१७] शीर्षपाद विलोमासन, आकर्ण धनुषासन आदि ।

इस प्रकार उक्त सभी आसन पूर्ण चिकित्सा के लिए उपयुक्त रह सकते हैं । चिकित्सक को इनका प्रयोग रोग की अवस्था, रोगी की वय और बल आदि के अनुपात से करना चाहिए । इनके सम्बन्ध से प्रारंभिक जानकारी देना आवश्यक है ।

आसन सम्बन्धी प्रारंभिक ज्ञान

योगासन का अभ्यास करते समय मन को पूर्णतया शान्ति और प्रसन्न रखना आवश्यक है । यदि मन में चिन्ता या शोक, क्रोधादि के

रूप में अशान्ति रहती है तो आसन करने से कोई लाभ नहीं होपाता। चित्त में काम-सम्बन्धी विकार भी नहीं रहना चाहिए।

अभ्यास से पूर्व उसकी क्रिया के प्रति आस्थावान होना आवश्यक है। यदि विश्वास नहीं, तो उसका फल भी सन्देहास्पद रहता है। इसलिए पूर्ण लाभ प्राप्त करना है तो उसमें विश्वास कीजिए, अन्यथा व्यर्थ परिश्रम करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आसन से पूर्व स्नान कर लेने से शरीर तो शुद्ध होता ही है, मन में भी पवित्र भाव उदय होने लगते हैं। स्नान के लिए ऋतु के अनुकूल ठण्डे या गर्म जल का प्रयोग कर सकते हैं। वैसे, चाहे कोई भी ऋतु हो, गुनगुने (सुखोष्ण) जल से स्नान करना अधिक हितकर है।

यदि चाहें तो आसन के अभ्यास से पहले ठंडे जल से स्नान करें और अभ्यास के पश्चात् गर्म जल से कर लें। इससे शरीर में अधिक स्फूर्ति और ताजगी आती है। परन्तु, ध्यान रहे कि गर्म जल से स्नान करने के पश्चात् ठण्डे जल से नहीं करना चाहिए।

योगाभ्यासी व्यक्ति को यम-नियमों का पालन आवश्यक रहता है। इनका पालन न करने से न तो मनोभूमि ही शुद्ध होती है और न शारीरिक स्वास्थ्य ही स्थिर रहता है।

योगासनों का अभ्यास करने के लिए समतल भूमि होना आवश्यक है। उसमें काँटे, कंकड़ आदि न हों और न वह गीली ही हो। यदि निकट में जल की सुविधा हो तो ठीक है। स्थान खुला हुआ या बराम्दे के रूप में रहे, जिसमें वर्षा आदि से तो बचाव हो सके, परन्तु स्वच्छ वायु और धूप अवश्य आती हो।

बैठने के स्थान पर कोई दरी या गद्दी बिछाई जा सकती है। शीर्षासन, सर्वांगासन प्रभृति के अभ्यास में तो गद्दी का अधिक

गुदगुदी होना ही उचित है। जाड़ों में चार तह मोड़कर कम्बल बिछाना हितकर रहता है।

आसन करते समय शरीर पर कम से कम वस्त्र रहने चाहिए, तंग वस्त्रों का प्रयोग अनेक आसनों में अहितकर सिद्ध होता है। इसलिए आसन के अनुकूल वस्त्रों का धारण किया जाना उचित है। शिर के बल खड़े होने वाले आसनों में जांघिया (अण्डर वियर) या लँगोट भी धारण किया जा सकता है।

कब्ज हो तो उसे दूर करने के लिए षट्कर्म में से किसी अनुकूल कर्म की सहायता लेनी चाहिए। अथवा मलावरोध दूर करने वाली किसी दवा का भी सेवन कर सकते हैं। रात्रि शयन काल में गर्म दूध के साथ गुलकन्द १ तो० सेवन करने से कोष्ठ साफ हो सकता है। कब्ज की अवस्था में आसन का अभ्यास अधिक लाभ नहीं कर पाता।

खाली पेट आसनों का अभ्यास करने से अधिक लाभ होता है। अभ्यास के बाद कोई हल्की वस्तु सेवन करनी चाहिए। मिश्री मिला हुआ सुखोष्ण गोदुग्ध अधिक हितकर होता है, परन्तु अभ्यास-निवृत्ति के १०-१५ मिनट बाद लेना चाहिए।

आसन के अभ्यास काल में सहज ढँग से स्थित होना चाहिए। उससे प्राणायाम स्वतः होने लगता है। आसन से बैठकर स्वाभाविक रूप से श्वास लें और छोडें तो उससे अभ्यास भी दृढ़ होता है और नाड़ियों का भी शोधन होने लगता है।

प्रारम्भ में ऐसे ही आसन किये जाँय, जो कि सरलता से हो सकें। टेड़े-सीधे या उल्टे आसनों का अभ्यास तभी करना चाहिए, जबकि सरल आसनों में सफलता प्राप्त होजाय, अन्यथा असफल और निराशा ही हाथ लग सकती है।

अभ्यास-काल में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि आसनों की सिद्धि में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। इसलिए

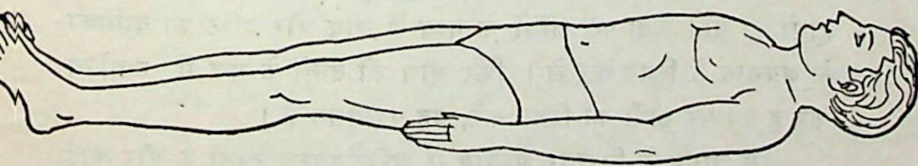
असफलता प्रतीत हो तो उससे निराश न होकर धैर्य से कार्य लेते हुए अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

रोगी अशक्त हो तो सुखासन या शवासन प्रभृति आसनों से लाभ उठाना चाहिए। कठिन आसनों के प्रयोग से बलहीन रोगी को हानि हो सकती है। यदि कोई कठिन आसन आवश्यक ही हो तो, उसे ५-७ सैकिण्ड से प्रारम्भ कर सकते हैं।

आसनों के साथ दीर्घ श्वास लेना और छोड़ना अधिक लाभकारी रहता है। शरीर को सीधा और समान स्थिति में रखना चाहिए। जिस आसन के विषय में ठीक प्रकार से समझ में न आवे तो किसी अनुभवी व्यक्ति से परामर्श लें या सीखें। इस प्रकार हित अहित की पूर्ण जानकारी के पश्चात् ही योगाभ्यास में तत्पर होना श्रेयस्कर रहता है।

शवासन

इसमें धरती पर पीठ के बल लेट कर समूचे शरीर को ढीला छोड़ दिया जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई मृतक शरीर पड़ा हुआ है। इसीलिए इसे मृतासन भी कहते हैं।



शवासन

यह आसन अत्यन्त सुबोध और सरल है। इसके करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इसके अभ्यास से शरीर की थकान मिट कर चित्त को अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है।

जिस मनुष्य को मानसिक अशान्ति हो, शरीर में परिश्रम या दूर गमन की थकान व्याप्त हो, उसे इस आसंन की स्थिति में मनोयोग पूर्वक

लेट जाना चाहिए। यह आसन पृष्ठ भाग में दर्द होने में भी हित कर रहता है।

यदि पीठ और कमर में अधिक दर्द हो तो दर्द-स्थान के नीचे कड़ा तकिया रख लेना चाहिए। इससे दर्द में शीघ्र लाभ मालूम होने लगता है तथा शरीर के पृष्ठभाग में होने वाली अकड़न और बेचैनी भी दूर हो जाती है।

आमवात के रोगियों को, जिनके पृष्ठ भाग और नितम्ब भाग में पीड़ा हो, उन्हें काठ के तख्त पर शयन करने से शीघ्र आराम का अनुभव होता है।

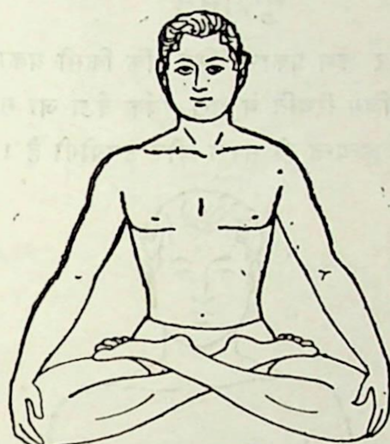
इस आसन के अभ्यास में धरती की ओर पीठ करके सीधे और निश्चल रूप से लेट जाइये। मन को चंचल न होने दीजिये और नेत्रों को छत की ओर करिये अथवा बन्द कर लीजिए। यह आवश्यक नहीं कि नेत्रों की पुतलियाँ स्थिर रखी जाँय। उनका खुली स्थिति में परिचालन होता रहना ही हितकर होता है। इसका अभ्यास एक घन्टे तक किया जा सकता है।

पद्मासन

दोनों पाँवों को सीधे करके प्रयत्न-पूर्वक जाँघों पर रखें और दोनों हाथों को सीधे फैला कर जाँघों के मध्य ले जाय और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर कर ले। फिर जीभ को दाँतों के मूल में स्थापित कर हृदय पर ठोडी को स्थित करे, यह पद्मासन है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से शरीर स्वस्थ रहता है और कोई रोग उत्पन्न नहीं हो पाता। यदि शरीर में पहिले से ही कोई रोग हो तो वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। निर्बलता हो तो वह दूर होती है। इसके अभ्यास से प्राणवायु का प्रवाह समान रूप से होने लगता है, इसलिए प्राणवायु के प्रकोप से या ऑक्सीजन की कमी से उत्पन्न होने वाले रोगों का शमन होता है। विद्वानों का मत है कि शरीर में सभी प्रकार की व्याधियाँ प्राणवायु के प्रकुपित या अनियमित होने से प्रकट होती हैं और

क्योंकि यह आसन प्राणवायु को नियमित उरके डसके प्रकोप को शान्त करता है, इसीलिए योगाचार्यों ने इसे सर्वरोग नाशन कहा है।



पद्मासन

इसके अभ्यास काल में दाँया पाँव बाँयी जाँघ पर और बाँया पाँव दाँयीं जाँघ पर रख कर दाँये हाथ को पीठ पीछे लेजाकर उससे बाँये पाँव के अँगूठे को पकड़िये तथा बाँया हाथ पीठ पीछे लेजाकर उससे दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ लीजिये। फिर चिबुक (ठोड़ी) को हृदय के निकट लेजाकर हृदय से चार अंगुल की दूरी पर रखिये और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर जमा लीजिये। जीभ को ऊपर की और से पलट कर पीछे की ओर लेजाइये और दाँतों के मूल में स्थिर कीजिये।

योगीन्द्र मतस्येन्द्रनाथ ने 'उत्थाप्य पवनं शनैः' कह कर वायु को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाने को बात कही है, उसका अभिप्राय प्राणापान के मेलन से हैजो कि कुण्डलिनी जागरण के लिए आवश्यक क्रिया है वायु के उत्थापन से मूल शोधन (गुदमार्ग का शोधन) भी होता है, जिससे सब प्रकार के अर्श रोग, मस्से, व्रणादि दूर हो जाते हैं। यदि इस आसन के साथ जब तक सरलता रहे तब तक प्राणायाम की रेचक, पूरक

और कुम्भक क्रियाएँ की जाँय तो अधिक लाभकारी होता है, अभ्यास के प्रारम्भ में कुम्भक-रहित रेचक, पूरक प्राणायाम भी कर सकते हैं ।

सुखासन

पालथी लगा कर इस प्रकार बैठिये कि किसी प्रकार के भी कष्ट का अनुभव न हो । जिस स्थिति में सुख पूर्वक बैठा जा सके, वही सुखासन है । यह आसन अत्यन्त ही सरल और उपयोगी है ।

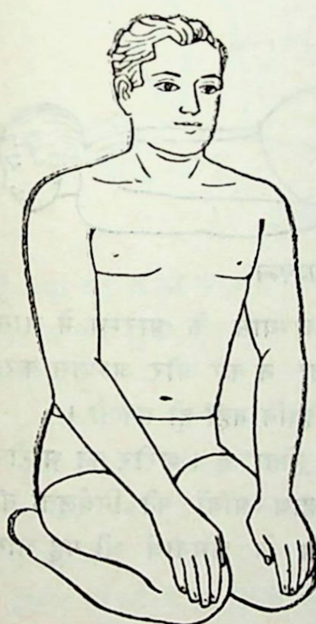


सुखासन

मार्ग चलने से अनेक लोगों के हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं और जी घबराने लगता है, उसके शमनार्थ इस आसन का उपयोग किया जा सकता है । इसके द्वारा थकान मिटाई जा सकती है और अशान्त मन को शान्त किया जा सकता है । परन्तु आवश्यक इस बात की है कि चित्त को चिन्ता से मुक्त रखा जाय ।

इसके अभ्यास में समान रूप से सीधे बैठ जाइये। टाँगों को इस प्रकार मोड़िये कि किसी एक अंग का दूसरे अंग पर दबाव न पड़े। इस प्रकार बैठने से मन में प्रसन्नता बनी रहती है।

वज्रासन



वज्रासन

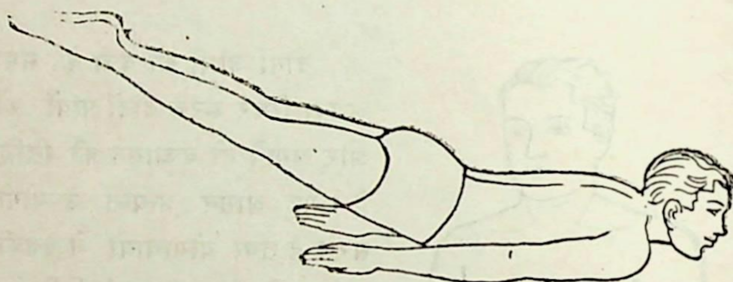
दोनों जाँघों को वज्र के समान दृढ़ अथवा स्थिर करके दोनों पांवों को दोनों ओर लगावे तो वज्रासन की सिद्धि होती है। यह आसन अत्यन्त उपयोगी और सरल है तथा योगाचार्यों ने इसकी बहुत प्रशंसा की है। 'आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा' (योग कुण्डल्युपनिषद्) अर्थात् 'दो प्रकार के आसन ही प्रमुख कहे गए हैं—पद्मासन और वज्रासन।

इसके अभ्यास से कमर में दर्द, कटि स्तम्भ एवं पीठ की वेदना नष्ट होती है। उदरस्थ अंतड़ियों पर दबाव पड़ने से उनमें समानता आती और विकृति दूर होती है। उदर के अनेक विकारों के शमन में इस आसन का उपयोग हितकर रहता है। उदर से उठने वाली गैस आदि को भी यह शान्त करता है।

इसके अभ्यास-काल में दोनों पाँवों को पीछे की ओर करके घुटनों को धरती पर टेक दीजिये तो यह आसन सिद्ध हो सकता है। नमाज पढ़ने के समय मुस्लिम साधक इसी आसन से बैठते हैं।

शलभासान

अधोमुख करके लेटे और दोनों हाथों को वक्षःस्थल के नीचे रखले तथा हाथों की हथेलियों को धरती पर टिका कर दोनों पाँवों को बालिश्त भर ऊँचा रखे। यह शलभासन इतना सरल है कि बिना किसी की



शलभासन

सहायता से ही साध्य होजाता है। यदि अभ्यास के प्रारम्भ में आसन ठीक प्रकार से न बन पावे तो कुछ चिन्ता न करे और अभ्यास करता रहे, क्योंकि इससे कभी किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।

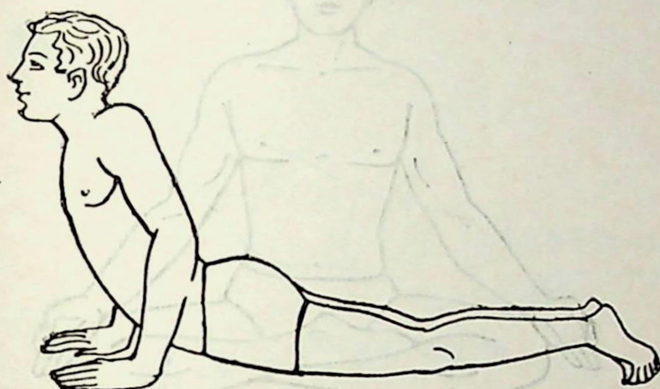
इससे पेट के अनेक रोगों का शमन होता है। शरीर का भारीपन दूर होता और लचक उत्पन्न होती है। हाथ पाँवों की निर्बलता नष्ट होकर उनमें दृढ़ता आती है। हृद्दौर्बल्य के शमनार्थ भी यह आसन उपयोगी रहता है।

इससे औंधे मुख लेट जाय, पेट धरती से लगा रहे और वक्षस्थल को ऊँचा करके उसके नीचे दोनों हाथ फैला कर इस प्रकार लगा ले कि हथेलियाँ धरती पर टिकी रहें तथा पाँवों को धरती से बालिश्त भर ऊँचा उठा लिया जाय।

भुजंगासान या सर्पासान

उदर के बल लेट कर ऊर्ध्वांग को धीरे-धीरे धरती से ऊँचा उठावे और दोनों हाथों की हथेलियों को धरती पर टिका कर शिर को सर्प

के फण के समान ऊँचा उठाले । इसमें कमर तक का भाग धरती पर समान रूप से टिका रहता है और कमर से ऊपर का भाग ऊँचा रहता



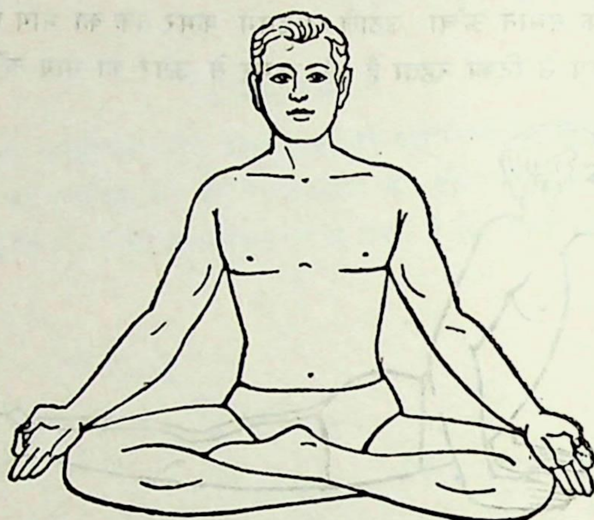
सर्पासन

है तथा वह ऊँचा भाग हथेलियों के सहारे रहता है। इस प्रकार का यह आसन भुजंग (सर्प) के आकार का होने के कारण उक्त नामों से प्रसिद्ध है।

शरीर के ऊर्ध्व भाग की निर्बलता और विकारों को दूर करने में इसकी अधिक उपयोगिता है। हाथों की अशक्तता, उनमें हल्का-हल्का दर्द और स्नायविक निर्बलता दूर होती है। मस्तिष्क सम्बन्धी विकारों में भी अत्यन्त हितकर है। इसके द्वारा उदरस्थ अग्नि का उद्दीपन होकर मन्दाग्नि दूर होती है।

सिद्धासन

सीधे समान रूप से बैठ कर दाँये पाँव को बाँयी जाँघ तक और बाँये पाँव को दाँयी जाँघ तक लेजाय तथा दोनों हाथों को इस प्रकार सीधे रखें कि उनकी हथेलियाँ घुटनों पर टिकी रहे। यह सिद्धासन कहलाता है। यह आसन बहुत सरल और कष्ट-रहित है।



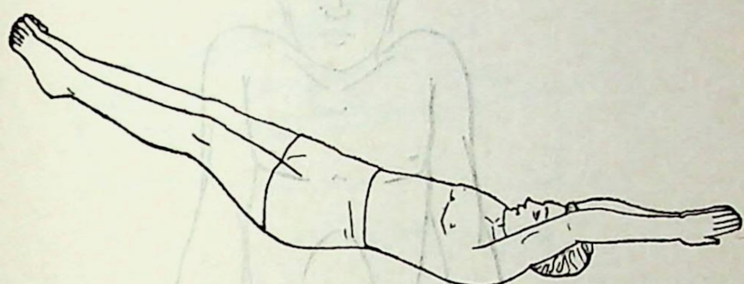
सिद्धासन

कुछ ग्रन्थकारों के अनुसार एक पाँव की एड़ी को गुदस्थान से मिला कर वहाँ का सम्पीडन करे अर्थात दबाले और दूसरे पाँव की एड़ी को मेढ़ पर दृढ़ता से रख ले और दृष्टि को भौंहों के मध्य स्थिर करे। इस प्रकार इसके अभ्यास से अण्डवृद्धि रोग नहीं होता और मेढ़ में दृढ़ता उत्पन्न होती है। अनेक प्रकार के उदर रोगों में भी इसके अभ्यास से लाभ पहुँचता है। वीर्य-दोषों में भी यह आसन उपयोगी पाया गया है।

उत्तान हस्त पादासन

इसमें पीठ के वल लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर करके, हथेली का पृष्ठ भाग जमीन से लगाकर दोनों पांवों को एक दम सीधे करके एड़ियाँ जमीन से लगी होनी चाहिए। धीरे-धीरे गहरी सांस भरते हुए दोनों टांग और हाथों को एक साथ इस प्रकार ऊपर की ओर उठाइये कि पीठ और नितम्ब का भाग जमीन पर रहे। इस आसन को १ मिनट तक अपनी शक्ति भर सांस रोक कर करना चाहिए।

इसका अभ्यास करने से मांस पेशियों में लचीलापन, अन्तः स्रावी ग्रन्थियों का अन्तःस्राव नियमित और संतुलित होता है। उदर रोग



उत्तान हस्तपादासन

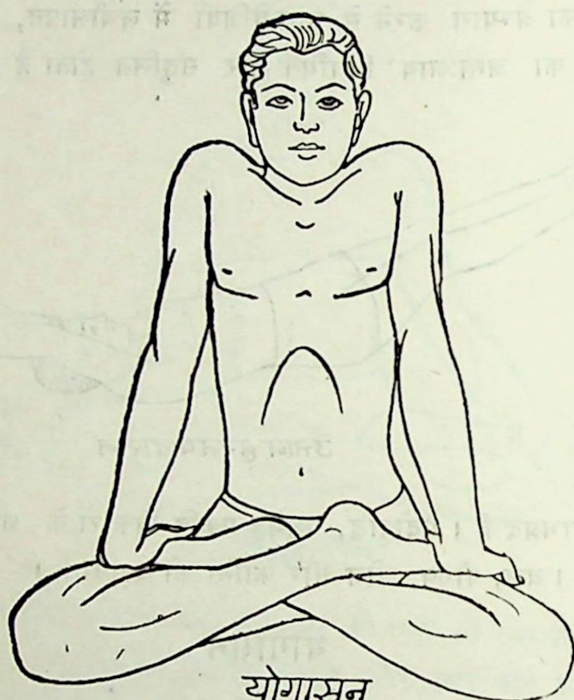
में भी लाभप्रद है। मेदोवृद्धि, मधुमेह प्रकृति विकारों के शमन में लाभ-दायक है। बल, पौरुष, ओज और कान्ति को बढ़ाता है।

योगासन

इस आसन का अभ्यास करने के लिए प्रथम पद्मासन लगाकर बैठे तथा दोनों पाँवों को उठाकर व्युत्क्रम (विपरीत क्रम से घुटनों पर रख ले। अभ्यास होने पर पूरक द्वारा वायु खींच कर कुम्भक करता हुआ नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करे। यह योगासन है।

यह आसन उदर की विकार-ग्रस्त क्रिया को ठीक करने वाला है। पाँवों में दृढ़ता आती है और वृषण वृद्धि भी रुकती है। कुछ लोग इसे अन्त्रवृद्धि और आँत उतरने में भी लाभप्रद मानते हैं। यदि इस आसन के साथ कुम्भक का अधिकाधिक अभ्यास किया जाय तो प्राणवायु का नियमन होता और उसकी गति ठीक रहती है, इसलिए हृद्दौर्बल्य में भी इसकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

इस प्रकार सरल कोर्स में उन सभी आसनों का अभ्यास कराया जा सकता है, जिनके करने में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव में नहीं



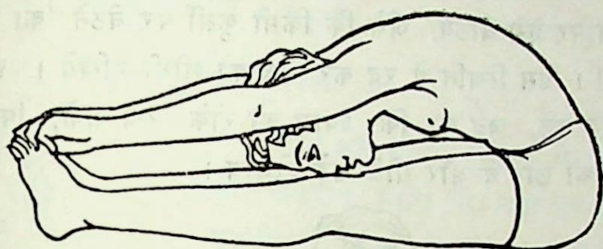
योगासन

आती। परन्तु उनका उपयोग तभी है, जबकि जिस रोग के शमनार्थ अभ्यास की आवश्यकता हो, उस रोग के निवारण में उसका सहायक होना संभव हो। वैसे, योगशास्त्रों में हजारों आसनों का उल्लेख मिलता है, परन्तु वे सभी उपयोगी हो सकते हों, ऐसा नहीं मान सकते।

अब संक्षिप्त कोर्स में व्यवहार किये जाने योग्य आसनों पर प्रकाश डाला जाता है—

पश्चिमोत्तानासन

दोनों पाँवों को धरती पर पसार कर उनके अँगूठों को दोनों हाथों से पकड़ ले और मस्तक को घुटनों पर या जाँघों पर रख ले। यह पश्चिमोत्तान आसन है। इसके अभ्यास से हाथ-पाँव और पृष्ठ भाग की नसें तथा माँस पेशियाँ दृढ़ होती हैं।



पश्चिमोत्तानासन

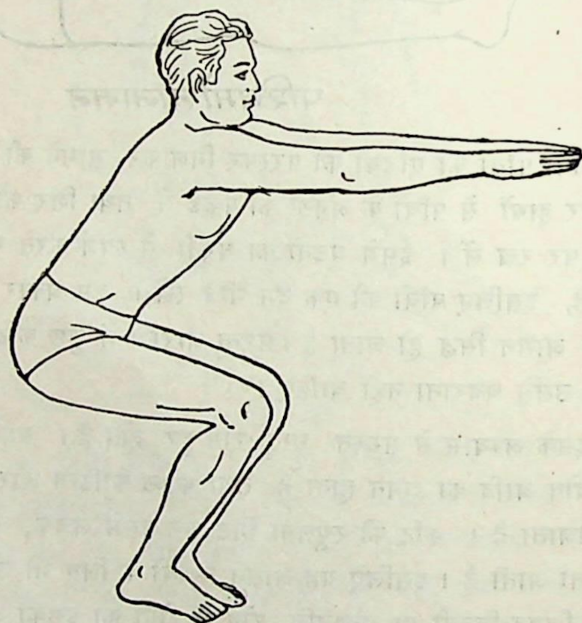
दोनों पाँवों की एड़ियों को परस्पर मिलाकर सामने की ओर फैला लें, और हाथों से पाँवों के अँगूठों को पकड़ लें तथा शिर को जाँघों या घुटनों पर रख लें। इसमें घुटनों का धरती से स्पर्श करते रहना आवश्यक है, इसलिए पाँवों को एक दम सीधे रखें। इस प्रकार के अभ्यास से यह आसन सिद्ध हो जाता है। परन्तु आरम्भ में कुछ कठिनाई प्रतीत हो तो उससे घबराना नहीं चाहिए।

इसके अभ्यास से समस्त धातु रोग दूर होते हैं। मधुमेह, प्रमेह, स्वप्नदोष आदि का शमन होता है तथा कोष्ठ काठिन्य और मलावरोध दूर होजाता है। कटि की स्थूलता मिट कर उसमें लचक, कृशता और सुन्दरता आती है। इसलिए यह आसन स्त्रियों के लिए भी उपयोगी है। परन्तु जिगर-तिल्ली या अन्त्रवृद्धि रोग के रोगी को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

उत्कटासन

इसमें पंजों के बल आधा खड़ा होना होता है। प्रथम सीधे खड़े होजाँय, एड़ियाँ परस्पर मिली रखें। फिर दोनों हाथों को सामने की ओर इस प्रकार फैलावें कि वे धरती के समानान्तर पर रहें। उनकी अँगुलियाँ खुली रखनी चाहिए। परन्तु दोनों हाथों के अँगूठे सटे हुए रखें।

तदनन्तर गहरा श्वास खींच कर घुटनों को धीरे-धीरे मोड़कर पाँवों के बल पर ऐसे बैठिये, जैसे कि किसी कुर्सी पर बैठने का उपक्रम कर रहे हों। इस स्थिति में रह कर रीढ़ को सीधी रखिये। इस स्थिति में तब तक रहें, जब तक कि श्वास को रोके रख सकें, फिर धीरे-धीरे श्वास को छोड़ दें और सीधे खड़े होजाँय।



उत्कटासन

यह क्रम कुछ सैकिण्ड तक विश्राम करके पुनः पुनः ८-१० बार करना चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए इसे एक मिनट तक कर सकते हैं। यदि प्रारम्भ में हाथ फैलाये रखने में कठिनाई प्रतीत हो तो कमर पर हाथ रख कर भी अभ्यास कर सकते हैं।

इस आसन से शरीर का सर्वांग दृढ़ होता है, पाँवों की माँस-पेशियाँ सबल होतीं और शोथादि भी नष्ट होता है। आहार के पचाने में इस आसन से बड़ी सहायता मिलती है। कटि-शूल, गृध्रसी, सन्धिवात जैसे

कष्टकारी रोगों में भी यह अत्यन्त हितकर है। जब तक श्वास को आसानी से रोका जा सके तभी तक रोकें, कष्ट की अनुभूति होने लगे तब उसे छोड़ दें। इस आसन को उँकड़ू बैठ कर भी कर सकते हैं।

सिंहासन



सिंहासन (१)

पाँवों की दोनों एड़ियों से सीवनी को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों और हाथों को फैला कर बैठने से सिंहासन होता है, क्योंकि इसमें साधक की स्थिति सिंह के समान होती है।

इसके लिए अण्डकोषों के नीचे जो सींवनी नाड़ी है उसके दोनों ओर एड़ियाँ लगा कर बैठिये। दाँयी ओर बाँया टखना और बाँयी ओर दाँया टखना रखना चाहिए घुटनों के ऊपर दोनों हाथों की हथेलियाँ रखे और उनकी अँगुलियाँ फैलाले और मुख को सिंह के समान फैला कर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे तो आसन का अभ्यास सिद्ध होता है।

यह आसन शरीर के अधोभाग को निरोग रखने में अत्यन्त सहायक होता है। अँगुलियों में दृढ़ता आती है तथा मुख और कण्ठ के अनेक विकार दूर होजाते हैं। वृषण-वृद्धि को रोकने में सहायक, पुष्टिप्रद एवं अनेक प्रकार के उदर रोगों के शमन में हितकर रहता है।

गुप्तासन

दोनों पाँवों को दोनों घुटनों के मध्य भाग में छुपा कर और गुह्य प्रदेश को उन पाँवों में करके बैठने को ही गुप्तासन कहते हैं। इससे गुह्यभाग में सबलता आती है।

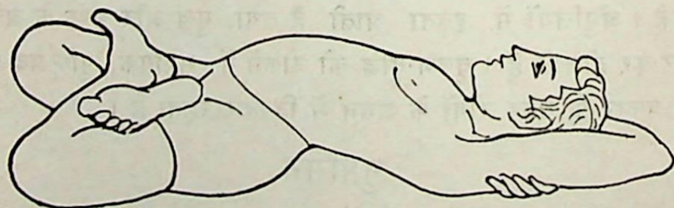


गुप्तासन

यह आसन स्त्रियों के लिए भी उपयोगी है, क्योंकि स्त्री, पुरुष दोनों के ही धातु-विकारों को दूर करने में सहायक है। इससे पेट के मन्दाग्नि आदि अनेक रोग दूर होते हैं तथा कोष्ठबद्धता नहीं रहती।

मत्स्यासन

इसमें धरती पर चित्त लेटा जाता है। बाँये पाँव की एड़ी को पायु-मूल में लगाकर उस पर दाँये पाँव की एड़ी रखें और हाथों की कुहनियों

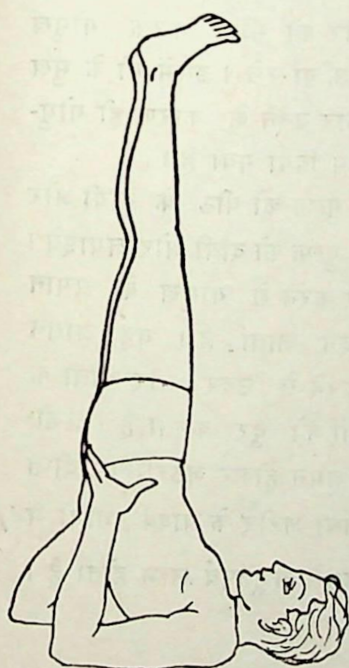


मत्स्यासन

से शिर को लपेट लें। कन्धों को ऊँचे उठा कर शिर को पीछे की ओर यथा-शक्ति मोड़ लेना चाहिए।

इस आसन से शरीरस्थ व्रण, चर्म रोग, स्नायविक विकार, यकृत विकार आदि में लाभ होता है तथा हड्डियों की निर्बलता और टेढ़ापन दूर होता है। थाइराइड और पैथाराइड की ग्रन्थियों का अग्रभाग पुष्ट करने में इसका अभ्यास बहुत हितकर रहता है।

सर्वांगासन



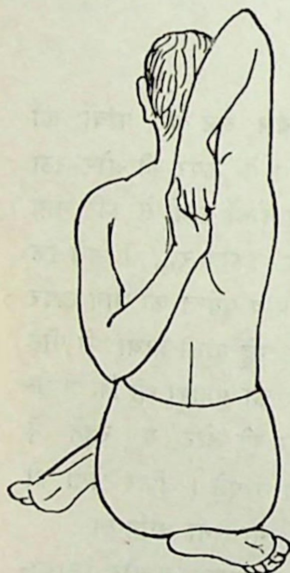
सर्वांगासन

पीठ के बल लेट कर पाँवों को कन्धों की सीध में ऊपर की ओर उठा कर तानें और दोनों हाथों से कटि-भाग को इस प्रकार टिकाये रहें, जिससे कि पृष्ठ भाग से पाँव पर्यन्त का भाग ऊपर की ओर तना रहे यानी हाथों से पीठ को इस प्रकार का सहारा रहे कि अधो-भाग के ऊपर की ओर सधे रहने में कोई व्यवधान न पड़े। फिर ठोड़ी को वक्ष-स्थल से लगा लेना चाहिए।

यह आसन थाइराइड और पैराथा-इराइड की ग्रन्थियों के पृष्ठ भाग को पुष्ट करता है। चेचक, मोतीज्वर, निमोनिया, जीर्णज्वर, विशूचिका, सब प्रकार के उदर रोग, अजीर्ण, मलोव-रोध, मन्दाग्नि, यकृत, प्लीहा, अन्त्रवृद्धि आदि रोग इसके अभ्यास से दूर हो जाते हैं या इसका अभ्यास करने वाले को नहीं होते। इससे शिरशूल, चक्कर आना, निर्बलता आदि में भी लाभ होता है। यदि स्त्रियाँ अभ्यास करें तो उनके मासिक धर्म के

विकार तथा गर्भाशय दोष आदि दूर होते और प्रसव वेदना बहुत कम होती है। इस प्रकार यह आसन अत्यन्त हितकर और आश्चर्यप्रद ढंग से रोगों को दूर करने वाला है।

गोमुखासन



गोमुखासन (२)

दोनों पाँवों को धरती पर रख उन्हें पीठ के दोनों पार्श्वों में लगावे और शरीर को सीधा करके गोमुख के समान ऊँचा रखे। इसमें गौ के मुख जैसा आकार बनने के कारण ही गोमुखासन नाम दिया गया है।

दाँये गुल्फ को पीठ के बाँयी ओर और बाँये गुल्फ को दाँयी ओर लगाइये। इस प्रकार करने से गोमुख के समान आकार बन जाता है। यह आसन अभ्यास करने से उदर और आँतों के अनेक रोगों को दूर करता है। अजीर्णादि का शमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर के पार्श्व भागों में दृढ़ता उत्पन्न होती है। वात रोगों में भी इससे अभूतपूर्व लाभ होता है।

कूर्मासान

दोनों अण्डकोशों के नीचे दोनों पाँवों की एड़ियों को व्युत्क्रम से रखने और शरीर, शिर एवं गर्दन को सीधा करके बैठने से कूर्मासिन बनता है। इसमें कछुए के समान आकार में स्थिति होती है।

टखनों को एक दूसरे के विपरीत क्रम से गुदा पर रखिये और कछुए के समान समाहित रूप से शरीर, शिर और ग्रीवा को सीधे रखते हुए



कूर्मासन

बैठ जाइये। यह आसन गुद रोगों को दूर करने में सहायक होता है। इससे कोष्ठबद्धता, अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं। परन्तु अधिक दिनों के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

स्त्रतिकासान

दोनों पांवों के तलुओं को दोनों घुटनों के बीच में करके बैठना ही स्वस्तिकासन है। इसमें त्रिकोणाकार या स्वस्तिक के आकार में स्थिति होती है, यह आसन शरीर को कोमल और लचकदार बनाने में उपयोगी है। पांवों की अशक्तता दूर होती है तथा गुद स्थान का शोधन होता है।

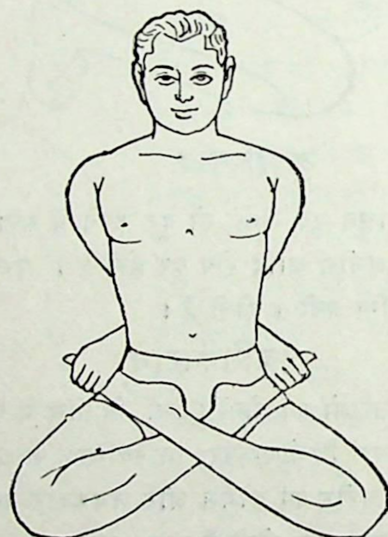
बद्ध पद्मासन और भद्रासन

पद्मासन लगाकर ठीक प्रकार से बैठें और दाँये हाथ से बाँये पाँव के अँगूठे को तथा बाँये हाथ से दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ लें तो यह बद्ध पद्मासन होजायगा।

और भद्रासन भी बद्ध पद्मासन के समान बैठने से शीघ्र बन सकता है। केवल इतना ही भेद है कि दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखने का निर्देश है। परन्तु पीठ के पीछे हाथ ले

जाकर दोनों हाथों से अँगूठों को बद्ध पद्मासन के समान ही पकड़ने का विधान है।

इस आसन के विषय में कुछ योग-ग्रन्थों ने जो वर्णन किया है, उसके अनुसार दोनों घुटनों को अण्डकोशों के नीचे पार्श्व में रखे और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँध कर बैठे।

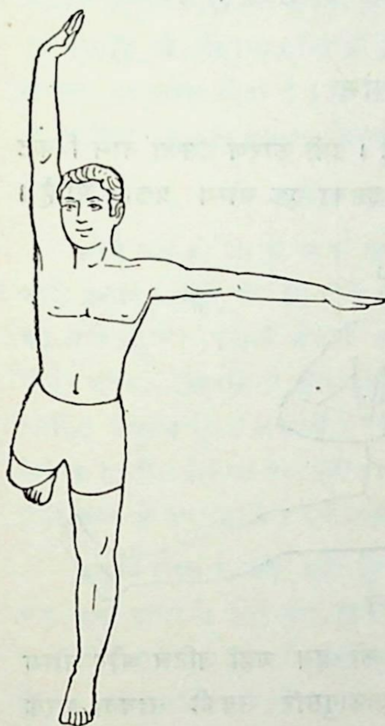


बद्ध पद्मासन

स्त्रियों के लिए भी यह आसन उपयोगी है। दोनों एड़ियों को उलट कर मिला कर बिल्कुल बीच में रखें और हाथों से पाँवों के अँगूठों को पकड़ लें। परन्तु हाथों को कुहनियों के निकट से मुड़ने न दिया जाय तथा पीठ की हड्डी सीधी बनी रहे।

इसके अभ्यास से भूख खुल कर लगती है। धातु-सम्बन्धी रोग नहीं होने पाते और प्रसवकाल में भी वेदना कम होती है। श्वास, कास, क्षय, अपस्मार, हिस्टीरिया आदि रोगों में भी हितकर है।

वृक्षासन या अश्वत्थासन


अश्वत्थासन

वृक्ष के समान सीधा खड़ा होकर दांये पांव को उठावे और बांयी जांघ के मूल में लगा ले। इसमें कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु सधे रहने का अभ्यास करना होता है। इसे अश्वत्थासन भी कहते हैं।

इसके अभ्यास से सब प्रकार की निर्बलता दूर होती और टांगें अधिक दृढ़ हो जाती है एक स्थिति में खड़े रहने से थकान का अनुभव होने पर, स्थिति बदल लेनी चाहिए अर्थात् दांये पांव को धरती पर टेक कर बांये पांव को उठाले और दांयी जांघ की जड़ में टिका ले, जब इस स्थिति में भी थकान मालुम पड़े तब अभ्यास छोड़ कर शान्ति-पूर्वक बैठ जाय।

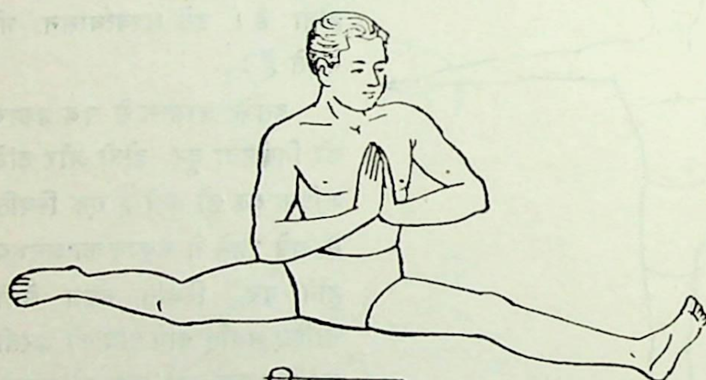
इस प्रकार के आसनों का प्रयोग संक्षिप्त कोर्स में किया जा सकता है। जब तक मन चाहे तब तक इनका अभ्यास करें और बाद में छोड़ दें तो, उससे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं होती। यदि इनका प्रयोग दीर्घ काल तक करें तो अधिक लाभ हो सकता है। परन्तु किसी दिन अभ्यास करें, किसी दिन न करें, इससे कोई लाभ नहीं हो सकता, वरन् हानि ही हो सकती है। इसलिए किसी भी आसन को करने से

पूर्व, कुछ दिनों तक उसके निरन्तर अभ्यास का विचार दृढ़ होने पर ही किया जाय।

अब पूर्ण कोर्स या दीर्घ कोर्स के लिए चुने हुए कुछ आसनों पर प्रकाश डालते हैं—

विकटासन

यह आसन करने में कुछ कठिन है। इसी कारण इसका नाम विकट अर्थात् भीषण आसन रखा गया है। इसका एक सौम्य प्रकार भी है।



विकटासन

जो लगाने में बहुत सरल है। पाठकों को हम यहाँ जटिल और सौम्य दोनों आसनों की प्रक्रिया लिखेंगे। इच्छानुसार उनकी साधना करके लाभ उठावें।

विकटासन के जटिल प्रकार में पैरों को आगे पीछे धरती पर समावस्था में फैलाते हैं। ऐसा करना प्रारम्भ में कठिन है, किन्तु धैर्य पूर्वक यदि साधक नित्य प्रति अभ्यास करता रहे तो जांघों की अवांछनीय चरबी छँटने और पैरों की नस-नाड़ियों में लचीलापन आने के साथ साथ इसका सफलतापूर्वक लगाना सरल होता जावेगा। अतः धैर्य और दृढ़ता के साथ संकल्प और लगन के साथ इसका अभ्यास दीर्घ

काल तक करने अपेक्षित है। विकटासन के इस भेद को बिपरीत-पाद-प्रसारण आसन भी कह सकते हैं।

इस विकट आसन से जंघा मूल, जांघ, घुटने, पिण्डलियाँ, एड़ी, सीवनी प्रभृति अंगों का अच्छा व्यायाम हो जाता है जिससे तत्सम्बन्धी स्नायुसमूह तो परिपुष्ट होता ही है, वीर्य की रक्षा भी होती है। काम वासना का शमन होता है। वीर्य विकार, अण्डकोष विकार तथा हर्निया के दूरीकरण में सहायता भी मिलती है।

प्रथम प्रकार की विधि

सीधे खड़े हो जाइये वाम पाद (पैर) को आगे की ओर फैलाइये। उसी प्रकार दाहिने पैर को पीछे को फैलाइये। धीरे धीरे इन दोनों पैरों को आगे पीछे से फैलाते फैलाते जमीन से लगा दीजिए। इस स्थिति में दोनों जंघायें, पिण्डलियाँ और एड़ियाँ जमीन से अच्छी तरह लग जाना चाहिए। घुटने मुड़ने न पावें। हाथों को सामने की ओर जोड़ लें पाँच सेकेन्ड से तीस सेकेन्ड तक इसी अवस्था में अवस्थित रहिये। फिर पूर्वावस्था में आ जाइये। अब टाँगें बदलकर इसी क्रिया को कीजिए।

इसका अभ्यास शनैः शनैः ही करना है। प्रारम्भ में अदल बदल कर दोनों टाँगों से १-१ बार ही विकटासन लगाना चाहिये। फिर ज्यों-ज्यों अभ्यास सिद्ध हो जावे, त्यों त्यों पाँच पाँच सेकेन्ड बढ़ाते हुए आधा मिनट तक अवस्थित रहने का अभ्यास करें।

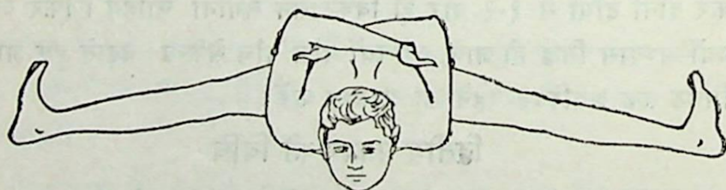
द्वितीय प्रकार की विधि

सर्व प्रथम पैरों को आगे की ओर फैलाकर सीधे बैठ जाइये। सिर और मेरुदण्ड सीधा रहे। फिर बायें पैर को मोड़िये और उसकी एड़ी दाहिने पैर की जाँघ से सटा दीजिये। अब दाहिने पैर को ऊपर की ओर उठाते हुये उसके पंजे को नाभि के दाहिनी ओर दृढ़ता से स्थापित कीजिये। ध्यान रहे, बाँयां घुटना खिसकने न पावे। वह अपने स्थान

पर दृढ़ रहे। तदुपरान्त दाहिने हाथ की हथेली को दाहिने घुटने पर रखिये और बाँये हाथ की हथेली को घुटने के सामने जमीन पर जमाइये। आधा मिनट से एक मिनट तक इसी अवस्था में स्थिर भाव से रहिये। यह कार्य अन्दर सांस रोककर किया जाना चाहिए, फिर शनैःशनै पूर्व स्थिति में आ जाइये और जब तक श्वास स्वाभाविक न हो जावे, विश्राम कीजिए। तत्पश्चात् दाहिने पैर को मोड़िये और उसकी एड़ी को बाँये पैर की जाँघ से सटा कर रखिये। फिर बाँये पैर को ऊपर की ओर उठाते हुये उसके पंजे को नाभि के बाँयीं ओर दृढ़ता से स्थापित कीजिये। ध्यान रहे दाहिना घुटना खिसकने न पावे। वह अपने स्थान पर दृढ़ रहे। उसके बाद पूर्ववत् बाँयी हथेली को बाँये घुटने पर रखिये तथा दाहिनी हथेली को घुटने के सामने जमीन पर जमाइये। पूर्व निर्देशानुसार आधा मिनट से एक मिनट तक इसी अवस्था में स्थिर भाव से सांस रोके हुए रहिये। पुनः सांस छोड़ते हुये पूर्व स्थिति में आ जाइये। इसे एक से तीन बार प्रतिदिन करना चाहिए।

पृष्ठबद्ध विकटासन

इसमें प्रथम प्रकार के विकटासन के समान दायें बाँयें पैरों को फैलाते हुए ठोड़ी को जमीन से लगाते हैं और भूमि को प्रणाम करते हैं।



पृष्ठबद्ध विकटासन

हाथ पीठ पर बाँध कर रखते हैं। इसी कारण इसे पृष्ठ बद्ध विकटासन कहते हैं। कुछ योगी इसे पृष्ठ-बद्ध-पाद-प्रसारण—भू-नमस्कार आसन की संज्ञा भी देते हैं। हाथों से पैर के अंगूठा पकड़ने पर यह विस्तृत पादा-

सन कहलाता है। विधि निम्न है:—

सीधे खड़े हो जाइये। धीरे धीरे दोनों पैरों को दायें बायें फैलाते हुए जमीन से सटा दीजिए। जंघा, पिण्डली, एड़ी आदि पूर्ववत् जमीन से अच्छी तरह लग जाना चाहिए। हाथों को पीठ पर परस्पर बाँध लीजिए अब धीरे धीरे सांस भरते हुए सिरो भाग को नीचे झुकाइये और ठोड़ी को जमीन से लगा दीजिए।

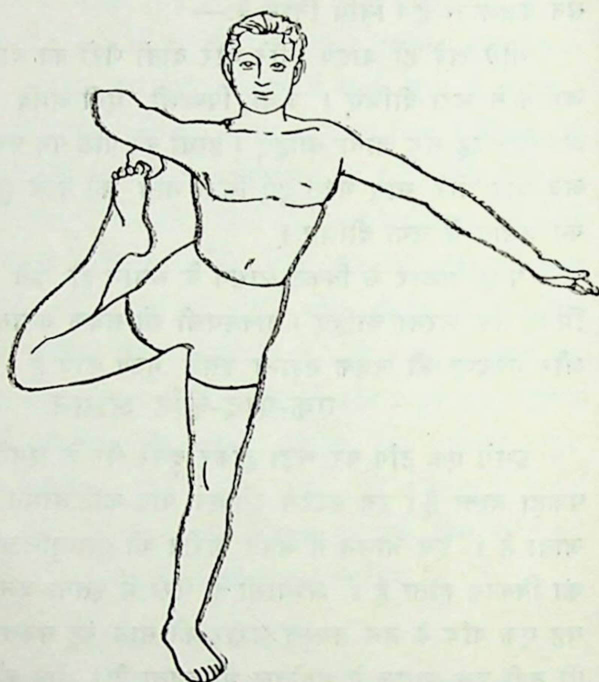
प्रथम प्रकार के विकट आसन के समान ही इसे ५ सेकेन्ड से आधा मिनट तक करना चाहिए। पाकस्थली को सबल बनाना कब्ज दूर करना और मेरुदण्ड की लचक बढ़ाना इसके मुख्य कार्य हैं।

एक-पाद-कटि आसन

इसमें एक टाँग पर खड़ा होकर दूसरे पैर के अँगूठे को कटि के पास पकड़ा जाता है। इस कारण इसे एक पाद कटि आसन के नाम से पुकारा जाता है। इस आसन से अपने शरीर को सुसन्तुलित रखने की क्षमता का विकास होता है। अभ्यासी के पैरों में इतना बल आ जाता है कि वह एक पाँव के बल समस्त शरीर को साधे रह सकता है। शरीर बल ही नहीं इस आसन से मनोबल भी बढ़ता है। मन को एकाग्र रखने की शक्ति भी इससे प्राप्त होती है।

एक पाद कटि आसन से कोहनी और घुटनों में लचीलापन आता है। अनभ्यास के कारण शनैः शनैः आम दोष नस नाड़ियों में एकत्र होता रहता है। जिससे बात वाहिनियों के कार्य में जब बाधा पड़ने लगती है, तो पिण्डलियाँ ऐंठने लगती हैं। हाथ पैरों में तीव्र दर्द हुआ करता है।

आम दोष जन्य इस प्रकार के आम शूल में, आमवात और संधिवात में यह आसन बड़ा उपयोगी है। इसके अभ्यास से वातवह नाड़ियों का 'दोष-संश्रय' दूर होता है। उनका कड़ापन मिटता है। पाद-दण्ड और भुज-दण्ड सबल होते हैं वक्ष और पसलियों में, जाँघ और पिण्डलियों के समान ही शक्ति आती है। मेरु-दण्ड ग्रीवा और दृष्टि भी प्रभावित होते हैं। विधि इस प्रकार है:—



एकपाद कटि आसन

सर्व प्रथम दोनों पैरों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाइये। हथेलियाँ जंघाओं पर सटी होना चाहिये। अब दाहिने पैर के घुटने को मोड़िये और पीछे की ओर इस प्रकार ले जाइये कि उसका तलवा आकाश की ओर (ऊपर की ओर) हो जावे। तदन्नतर दाहिने हाथ को मोड़ कर पीछे की ओर ले जाइये और उससे दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़िये और बाँया हाथ बायें कन्धे की सीध में पृथ्वी के समानान्तर फैलाइये। साथ ही साँस भरकर एकदम सीधे खड़े हो जाइये। बायाँ पैर मेरु दण्ड, सिर और ग्रीवा एक सीध में तने रहना चाहिए जितने समय तक आसानी से साँस रोक कर आप रह सकते हैं, उतने समय तक स्थिर रहिये। फिर धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाइये। उसके बाद बायें

पैर के घुटने को मोड़िये और पीछे की ओर ले जाइये। बाँयें पैर का तलवा आकाश की ओर रहना चाहिये। फिर बाँयें हाथ को मोड़ कर पीछे की ओर ले जाइये और बाँयें पैर के अँगूठे को पकड़िये। दाहिना हाथ दाहिने कन्धे की सीध में फैलाइये। साथ ही सांस भी भरिये। दाहिना पैर, मेरुदण्ड, और ग्रीवा एक सीध में तने रहना चाहिये, जितने समय तक आसानी से साँस अन्दर रोक सकते हैं, उतने समय तक इसी स्थिति में अपने को ताने रखिये।

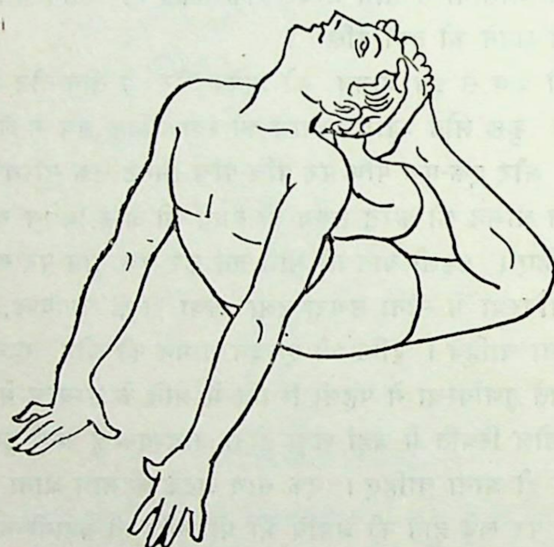
इसी क्रम से इस आसन को प्रत्येक पैर से तीन-तीन बार करना चाहिये। कुछ लोग श्वास-प्रश्वास को स्वाभाविक रूप से लेते व छोड़ते रहते हैं और एक-एक पाँव पर पाँच-पाँच मिनट तक सुस्थिर खड़े रहते हैं। इस आसन को करते समय दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। पहली बात तो सीधे तन कर एक पाँव पर खड़े होने की है। पूर्णावस्था में सीना उभरा हुआ तथा रीढ़, पाददण्ड, ग्रीवा और सीधे रहना चाहिये। दृष्टि भी एकदम सामने की ओर रहना चाहिए। दूसरी बात पूर्णावस्था से पहली स्थिति में आने के सम्बन्ध में है। धैर्य-पूर्वक अडोल स्थिति में जहाँ खड़ा होना आवश्यक है वहाँ पूर्व-स्थिति में धीरे-धीरे ही आना चाहिए। एक साथ झटके के साथ आना ठीक नहीं। एक पाँव पर खड़े होने की अवधि भी धीरे-धीरे ही बढ़ानी चाहिए।

पाद-शिरासन

इस आसन में पैरों से सिर का पिछला भाग स्पर्श किया जाता है। क्रिया के अनुकूल ही इसका नामकरण 'पाद-सिरासन' किया गया है। जो सर्वथा उचित है। कुछ योगी इसे विपरीत-पाद-मस्तक-स्पर्शासन की संज्ञा देते हैं।

पाद-सिरासन से ग्रीवा, स्कन्ध-मूल, कोहनी, भुजदण्ड, कलाई, हथेली, और अँगुलियों का तो उत्तम व्यायाम होता ही है वक्ष स्थल तथा

पसलियों पर भी अनुकूल खिचाव रहता है। इस कारण इसके सतत अभ्यास से स्कन्ध-मूल, भुजदण्ड, कलाइयाँ आदि तो बलिष्ठ होती ही हैं, छाती भी चौड़ी और विस्तृत होती है। अवटु और उपवटु नाम्नी अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ जो कण्ठ देश में अवस्थित हैं, तथा थाइमस ग्रन्थि जो हँसली के पास है, भी प्रभावित और संचेतित होती हैं। उनका अन्तः स्राव शुद्ध और नियमित बनता है।



पाद शिरासन

इस तरह विचार करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि पाद-शिरासन गलगण्ड, कण्ठमाला, टांसिल आदि कण्ठ स्थानिय रोगों को, श्वास-कास, प्रतिश्याय आदि श्वास वह संस्थान के रोगों को सहज ही निर्मूल करता है।

अवटु, उपवटु, थाइमस, एड्रिनल और पेंक्रियाज ग्रंथियों की संचेतना से शरीरस्थ रक्त स्वस्थ और सबल होता है। फलतः जीविनी शक्ति, जिसे रोग निरोधिनी शक्ति भी कहते हैं, पाद-सिरासन से बढ़ती

है। इस दृष्टि से यह आसन आयुवर्धक है । लम्बी आयु को देने वाला है ।

पाद-सिरासन की पूर्णावस्था में मेरुदण्ड को विपरीत दिशा में मोड़ा जाता है । मेरुदण्ड को आगे की ओर झुकाने से जितना लाभ होता है पीछे को झुकाने से उससे अधिक ही लाभ मिलता है। पाद-सिरासन से मेरुदण्ड की स्थिति-स्थापकता अक्षुण्ण रहती है । उससे निकलने वाले ज्ञानवाही तथा क्रियावाही स्नायुओं के जोड़ों पर इस आसन का अनुकूल प्रभाव पड़ता है । मेरुदण्ड की वक्रता, पृष्ठशूल, कटिशूल, आदि बीमारियाँ दूर होती हैं ।

इस आसन से पेट, पैर, पिण्डली की चर्बी छटती है । शरीर में लचीलापन, स्फूर्ति, और ताजगी आती है । काम करने में मन लगता है। यही नहीं, इस आसन से उदर गुहा, पाक स्थली क्षुद्राल, वृहदंज, यकृत और तितली की कार्यशक्ति बढ़ती है जिससे भोजन के पाचन में तथा शौचशुद्धि में सरलता होती है ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पाद-सिरासन सरल और उपयोगी आसन है । इससे सम्पूर्ण शरीर के आन्तरिक-बाह्य अवयवों की कार्य क्षमता बढ़ती है । अनेक रोगों का शमन होता है । जठराग्नि का उद्दीपन करना और शरीर में बल व सुकुमारता लाना इसकी प्रधान विशेषता है । विधि इस प्रकार है—

तख्त या जमीन पर बिछौना बिछाकर पेट और छाती के बल पर लेट जाइये । ठोड़ी जमीन से लगी रहनी चाहिये दोनों हाथों की हथेलियाँ जंघाओं के उभय पार्श्वों में जमीन से चिपकी रहना चाहिये । फिर दोनों हथेलियों को कमर की सीध में जमीन पर जमाइये और कमर से ऊपरी भाग को ऊपर की ओर उठाइये । शनैःशनैः साँस भरते हुये सिर को पीछे की ओर मोड़िये और दोनों पैरों को घुटने से मोड़कर उनके तलवों पर रोकिये । इस दशा में आँखें एक दम आकाश की ओर

हो जावेंगी और एड़ियाँ, पैरों के गट्टे तथा अंगूठे परस्पर सटे होंगे आधा मिनट तक साँस रोके हुए इसी स्थिति में स्थिर रहिये । ध्यान रहे, सांस रोकने के लिये किसी प्रकार की जबरदस्ती या हठधर्मी करना अलाभकर है । धीरे धीरे अवधि बढ़ाना है । शरीर बल और अभ्यास शनैः शनैः ही बढ़ता है । उसके बाद सांस छोड़ते हुए पूर्व-स्थिति में आजाइये । झटके के साथ न तो पैर पीछे जाना चाहिए और न सिरोभाग ही जमीन पर लाना चाहिए ।

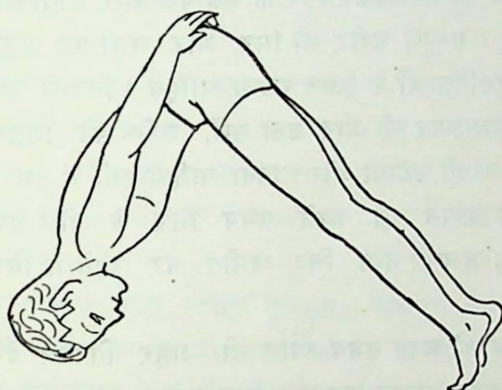
यह आसन तीन से पाँच बार तक प्रति दिन करना चाहिये । सांस को स्वाभाविक रीति से लेते और छोड़ते हुये दो से पाँच मिनट तक पूर्णावस्था में अवस्थित रहना भी लाभकर है । पाद-शिरासन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि भुजदण्ड एक दम सीधे और तने रहें । उनमें किसी प्रकार का खम या लोच नहीं रहना चाहिये । वक्षस्थल और ग्रीवा अधिकाधिक तने रहना चाहिये ।

इस आसन को करते समय स्नायु मण्डल की सक्रियता की भावना मन ही मन करने से वड़ा अच्छा असर पड़ता है । योग्य और अनुभवी आसना-भ्यासी के परामर्श से रोग विशेष के निवारण के लिए इस आसन को बीस मिनट तक किया जा सकता है । हार्निया के रोगी और गर्भवती स्त्रियाँ इसे कदापि न करें । जितने समय तक यह आसन लगावें, उतने समय तक शवासन पर लेटकर पूर्ण विश्राम करना अनिवार्य है।

भूमि-पाद शिरासान

इस आसन में सिर और पैर को भूमि पर अवस्थित करते हैं और नितम्ब देश को तम्बू की भाँति ऊपर की ओर तानते हैं । इस आसन के अभ्यास से पैर की अंगुलियाँ पिण्डलियों, घुटनों, जंघाओं, नितम्ब पेड़, सीना, ग्रीवा और सिरोभाग का उत्तम व्यायाम होता है । इन इन अंगों पर स्वास्थ्यकारी तनाव और खिचाव पड़ने से बलिष्ठ होते हैं ।

रक्ताभिसरण की क्रिया तेज होती है, अन्तरावयवों की कार्य क्षमता तथा क्रियाशीलता बढ़ती है। इस आसन से रक्त न्यूनता एवं रक्तचाप न्यूनता (लो ब्लड प्रेशर) में बड़ा लाभ होता है।



भूमिपाद शिरासन

सिर दर्द, दिमाग की कमजोरी जैसे स्नायु-रोगों के निवारण के लिए यह प्रसिद्ध है। निराशा, उत्साहीनता, अवसादभाव तथा चिड़चिड़ेपन को भी भूमि-पाद सिरासन सहज ही में दूर करता है। इससे नेत्र-ज्योति बढ़ती है। हृदय को भी बल मिलता है। निम्न विधि से इसे करना चाहिए:—

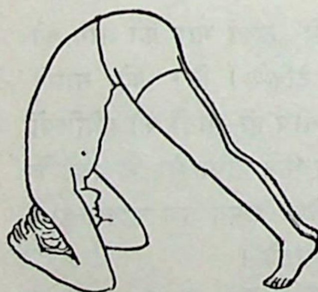
पहले सीधे खड़े हो जाइये। अब कटि से ऊर्ध्व भाग को आगे की ओर झुकाकर दोंनों हथेलियों को भूमि पर टेकिये। सिर को सामने रक्खी रुई की गद्दी पर स्थापित कीजिए। साथ ही हाथों की हथेलियों को नितम्बों पर रख लीजिए। पूरे शरीर को सिर तथा पैर के पँजों के बल पर संतुलित कीजिए। इस स्थिति में यथेष्ट समय तक रहकर हाथ का सहारा देते हुए धीरे धीरे पूर्व स्थिति में आइये।

इस आसन को पूर्णावस्था में घुटने, पिण्डली एड़ी और पादांगुष्ठ परस्पर मिले हुये, सटे हुए रहना चाहिए। ये सब अंग सीधे रहना

चाहिए और सिर तथा पंजों के बल पर धड़ का भार साधना है। इस आसन को पेट के बल जमीन पर लेटकर भी किया जा सकता है। उस स्थिति में हाथों की टेक लेकर सिर के बल पेट और छाती को ऊपर को उठाना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर को सिर और पंजों पर संतुलित करके हाथों को पूर्वत् नितम्बों के ऊपर रखना चाहिये। नितम्ब को जितना अधिक से अधिक ऊपर की ओर उठा सकें, शरीर को जितना अधिक तान सकें, उतना ही उठाना और तानना चाहिये इसी में इस आसन की सफलता है इस आसन को करते समय सिर के नीचे गद्दी रखना परमावश्यक है; अन्यथा नंगा सिर जमीन पर रहने से सिरोभाग को कष्ट होगा।

इस आसन को करते समय श्वास को बाहर निकाल देनी चाहिये और पेट को जितना अन्दर बलपूर्वक लेजा सके, उतना उसे खलायें यह आसन पाँच सेकिन्ड से बीस सेकिन्ड तक किया जा सकता है। जिन्हें साँस बाहर रोकने में असुविधा होती हो, वे मन्द श्वास लेते हुए इस आसन को करते रह सकते हैं। उन्हें यह आसन दस सेकिन्ड से एक मिनट तक करना चाहिए।

शीर्षासन



शीर्षसिन (१)

यह आसन धरती पर शिर के बल खड़े होकर पाँवों को ऊपर की ओर करने से बनता है। धरती पर कोई मोटी गद्दी बिछा कर घुटनों के बल बैठें और दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर मिला कर घेरा-सा बना लें और बिछायी हुई गद्दी पर शिर रख कर इस प्रकार औंधे होजाइये कि

जिससे पाँव ऊपर आकाश की ओर सीधे तन जाँय। इस प्रकार शिर के बल खड़े होकर सम्पूर्ण शरीर का भार कुहनियों हथेलियों और शिर पर ही रखें तथा ऊपर तनी हुई टाँगों के पंजे और अँगूठे परस्पर मिले रहें।

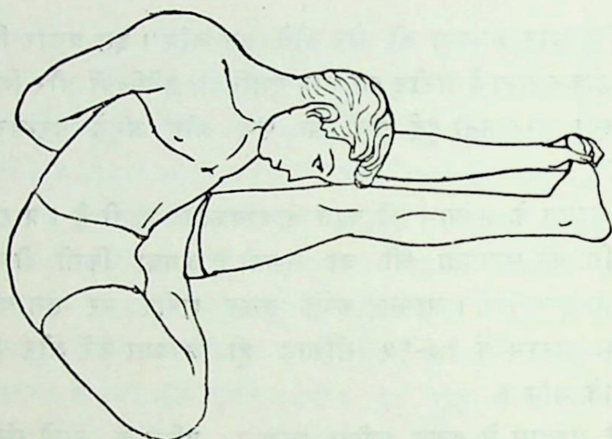
इस आसन के अभ्यास की बहुत आवश्यकता रहती है। प्रारम्भ में किसी व्यक्ति की सहायता ली जा सकती है अथवा किसी दीवाल के सहारे से अभ्यास करें। आसन करते समय शरीर पर तंग वस्त्र न पहिनें तथा प्रारम्भ में १०-१५ सैकिन्ड ही अभ्यास करें और बाद में समय बढ़ाते जाँय।

इसके अभ्यास से यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस, मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान, श्वसन संस्थान, पचन संस्थान और मल विसर्जन संस्थान आदि सबल, सक्रिय होकर दीर्घजीवन देने वाले होते हैं। स्त्री-पुरुषों के मूत्राशय के सभी दोष मिट कर प्रजनन अंग सशक्त होजाते हैं। वीर्य कीट गर्भाधान में सक्षम होते और स्त्रियों के गर्भाशय के विकार, मासिक गड़बड़ी, प्रदर आदि का शमन होता है। पित्त प्रकृति की प्रधानता वालों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

प्रारम्भ में शिर के नीचे गद्दी रख कर दीवाल के सहारे उल्टे खड़े होजाइये। यदि इसमें कठिनाई प्रतीत हो तो किसी की सहायता लीजिए, जो कि आपके पाँवों को ऊपर से थाम ले और गिरने न दे। धीरे-धीरे शरीर का संतुलन बनाने का अभ्यास कीजिए। १०-१५ सैकिण्ड उस स्थिति में रह कर पूर्ववत् धरती पर बैठ कर विश्राम कीजिए। इस प्रकार बार-बार करने से अभ्यास दृढ़ होने लगता है।

उत्थित जानु शीर्षासन

इस आसन में सिर को उठाकर जानु पर रक्खा जाता है। इस कारण इसे उत्थित जानु-शीर्षासन की संज्ञा दी गई है। कुछ योगीजन इसे अर्ध-बद्धपद्म-पश्चिमोत्तान-आसन के नाम से पुकारते हैं। यह सम्बो-



उत्थित जानुशीर्षासन

धन क्रिया मूलक ही है। इस आसन से पेट की बढ़ी हुई वादी छटती है। सभी प्रकार के उदर-विकार नष्ट होते हैं। मन्दाग्नि, अन्त्ररोध, बद्धकोष्ठ, वातगुल्म, अजीर्ण, उदर-वायु आदि रोगों का सहज ही प्रशमन होजाता है। टांगों की नस-नाड़ियाँ, अस्थि-सन्धियाँ और स्नायु-मण्डल सुपुष्ट और सशक्त होजाते हैं। उत्थित जानु शिरासन से चर्बी और वात रोगों की ही निवृत्ति नहीं होती, जिगर और तिल्ली के वृद्धि न्यून-स्रवण आदि दोष भी शान्त होते हैं। क्लोम-ग्रन्थि और हार्निया स्थल पर इसका सर्वाधिक प्रभाव देखा गया है। यही कारण है कि यह मधुमेह और हार्निया के निवारण में अतीव सहायक है।

उत्थित जानु शिरासन लगाने से मेरुदण्ड, घुटनों और पिण्डलियों पर अत्यधिक खिचाव पड़ता है। इस कारण इन अंगों में शुद्ध रक्त की गति तीव्र हो जाती है। इनमें स्थिति-स्थापकता (लचीलापन) तो आता ही है, इनकी ऐंठन, पीड़ा आदि भी शान्त होती है। मेरुदण्ड के साथ ही मूलाधार आदि चक्र पर स्वास्थ्यकारी सुप्रभाव पड़ने से सुषुम्णा द्वार खुल जाता है। अतः इस आसन से प्राणोत्थान (रग-रग में शक्ति के

संचार) तथा कुण्डलिनी जागरण (नस-नस में अद्भुत उमंग, उत्साह और उल्लास से सवेग उत्थान) में सहायता मिलती है। इस तरह इस आसन से मन में निर्मलता, एकाग्रता और दृढ़ता आती है, अन्यमनस्कता, दोष, दुर्बुद्धि का नाश होकर जीवन समस्वर बन जाता है। अतः इस आसन की साधना शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक लाभ देने लाली है, यदि उदान्त भावनाओं के साथ इसे किया जाय। इसकी विधि निम्न प्रकार हैं:—

सर्व प्रथम पैर सामने की ओर फैलाकर जमीन पर कुछ बिछाकर बैठ जाइये। उसके बाद धीरे-धीरे बाँयां घुटना मोड़िये और उसकी एड़ी दाहिनी जंघा की जड़ के पास जमाइये। इस स्थिति में दोनों घुटने जमीन से सटे रहना चाहिए। अब बाँये हाथ को पीछे की ओर से मोड़ कर दाहिनी जंघा पर रखे हुए बाँयें पैर के अंगूठे को कसकर पकड़िये। तत्पश्चात् दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को थामिये। ध्यान रहे, न तो दाहिना घुटना मुड़ने पावे और न दाहिने पैर की एड़ी ही उठने पावे। दाहिना पैर पूरी तरह से पृथ्वी से सटा रहना चाहिए। फिर धीरे-धीरे साँस भरते हुए कमर से ऊपर के भाग को नीचे की ओर झुकाइये और माथा दाहिने घुटने से लगाइये। पन्द्रह सेकेन्ड से एक मिनट तक इस स्थिति में स्थिर-भाव से रहिये। अधिक देर तक ठहरने का हठ या मोह न कीजिए। शक्ति और अभ्यास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाय, त्यों-त्यों प्रति सप्ताह दस-दस सेकिन्डों के हिसाब से बढ़ाना उचित है।

फिर साँस छोड़ते हुए धीरे-धीरे पूर्व स्थिति में आ जाइये और श्वास की गति सामान्य होने तक शान्त भाव से बैठ रहिये। तत्पश्चात् शनैः शनैः दाहिने घुटने को मोड़िये और उसकी एड़ी को वाम जंघा के जड़ के पास स्थापित कीजिए, इस स्थिति में दोनों घुटने जमीन से ही सटे रहना चाहिये। अब दाहिने हाथ को पीठ पीछे से लाकर वाम जंघा मूल पर रक्खे हुये दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़िये। फिर पूर्ववत् बाँये हाथ से

बाँयें पैर के अँगूठे को पकड़िये । ध्यान रहे, घुटना और एड़ी उठने-मुड़ने न पावें । पैर पूरी तरह से जमीन पर एकदम सीध में जमा रहना चाहिए ।

फिर पूर्ववत् शनैः शनैः गहरी साँस लेते हुए कमर से ऊपरी भाग को नीचे झुकाते हुए ललाट को बाँयें घुटने पर रखिये । पूर्ववत् १५ सेकेन्ड से एक मिनट तक इसी स्थिति में स्थिर भाव से अपने को साधे रहिये । फिर नासापुट से धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुए पहले के समान पहली स्थिति में आ जाइये । कुछ सेकन्ड विश्राम करके इसी क्रम से यथेष्ट वार उत्थित जानु शीर्षासन कीजिए ।

यह आसन प्रतिदिन १ से तीन वार तक किया जा सकता है। श्वास प्रश्वास तथोक्त नियमन के बिना भी स्वाभाविक रीति से साँस लेते हुये इस आसन को लोग करते हैं। उस स्थिति में कम से कम एक मिनट तक माथे को घुटने से लगाये रहना चाहिए। अभ्यास बढ़ाकर तीन मिनट तक पूर्णावस्था में टिकने की आदत डाल लेना चाहिए । कई साधक एक पैर को नितम्ब के नीचे रखकर, दूसरे पैर को सीधा फैला कर घुटने पर माथा टेकते हुए दोनों हाथों से अँगूठा और तलवा पकड़ते हैं। योगासनों में इसका नाम एक पाद पश्चिमोत्तान आसन है। यह पूर्वापेक्षया सरल भी है ।

इसी प्रकार एक पैर को गर्दन पर रखकर, दूसरे पैर को पूर्ववत् फैलाकर घुटने पर माथा टेकते हुए दोनों हाथों से तलवा पकड़ने का अभ्यास भी किया जा सकता है । तथा एक घुटने को खड़ा करके, दोनों हाथों को पीठ पीछे परस्पर बाँधकर माथे को घुटने में लगाने से यह अन्य प्रकार का उत्थित जानुशीर्षासन बन जाता है। थोड़े परिवर्तन के साथ और भी कई ढँगों से इसे किया जा सकता है । सबमें एक मुख्य बात जो ध्यान देने योग्य है; वह यह है कि पैर बिल्कुल सीधा रहे, जमीन से पूरी तरह लगा रहे।

विहंगासन

इस आसन की आकृति गृद्ध, चील आदि पक्षियों के शरीर सुखाने जैसी दिखाई पड़ती है। इसी से इसे विहंगासन कहा जाता है। विहंगा-



विहंगासन

सन का नियमित अभ्यास करने से छाती फैलती है। सीना चौड़ा और बलिष्ठ होता है। फेंफड़ा और पसलियों की दुर्बलता दूर होती है। वे अधिक सक्रिय, अधिक सशक्त बनते हैं। फलतः कास-श्वास और टी. बी. के निवारण में बड़ी मदद मिलती है।

इस आसन से उदर पेशियों का, टांगों और हाथों का सुन्दर व्यायाम हो जाता है। मन्दाग्नि, गैस बनना, कब्ज, परिणाम शूल आदि उदर विकार विहंगासन से नष्ट होते हैं। नया रक्त और बल-वीर्य बढ़ता है।

विहंगासन से निश्चय ही थायराइड, पैराथायराइड, और क्लोम ग्रन्थियाँ प्रभावित होती है। उनके अन्तःस्राव समुचित मात्रा में नियमित रूप से रक्त में मिलते रहते हैं। जिससे सभी अन्तरावयव स्वस्थ, सबल और निरोग बनते हैं। विधि इस प्रकार है:—

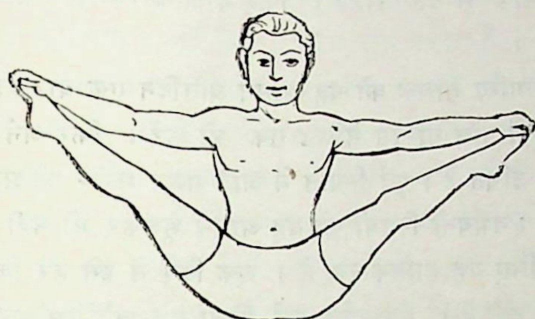
दोनों टांगों को सामने की ओर फैलाते हुए बैठ जाइये। एड़ी, पंजे और घुटने परस्पर मिले रहना चाहिए। हाथों को दोनों पार्श्व में रखिए अब दोनों टांगों को दायें-बायें खूब फैलाइये, जितना फैला सकें। ध्यान रहे, घुटने मुड़ने न पावें। उसके बाद दोनों हाथों से पैरों के अँगूठों को

पकड़िये तदनन्तर शरीर के ऊपरी भाग को धीरे-धीरे सांस अन्दर खींचते हुए, सामने की ओर ठुड्डी को भूमि से लगाइये। और दृष्टि को सामने की ओर रखिये। दस सेकेन्ड से एक मिनट तक अपनी शक्ति और अभ्यास के अनुसार इसी स्थिति में अपने को साधे रखिये। जांघें, घुटने, पिण्डलियां पादगुल्फ और एड़ियां भूमि से सटी रहनी चाहिये। कहीं लोच या शिथिलता नहीं आनी चाहिये। फिर सांस छोड़ते हुए धीरे-धीरे प्रथम स्थिति में आ जाइये।

इसी क्रम से विहंगासन तीन से पांच वार तक प्रतिदिन किया जा सकता है। विहंगासन की सफलता पैरों के अधिकाधिक फैलाव और शरीर के ऊपरी भाग को अधिकाधिक नीचे की ओर झुकाने तथा ठोड़ी को भूमि से लगाने में है। जो लोग चर्बी की अधिकता के कारण ठोड़ी को भूमि पर न लगा सकते हों, दोनों हाथों को कमर के पास परस्पर बांध कर अधिकाधिक नीचे की ओर बार-बार झुकाने और उठाने की पी. टी. करके कुछ महीनों में चर्बी छाँट कर उपर्युक्त विधि अपनावें, किन्तु यह कार्य झटके के साथ न करें। प्रतिदिन विहंगासन करने के बाद शवासन पर विश्राम अवश्य करें।

विस्तृत हस्त पादांगुष्ठासन

इसमें दोनों पैरों को ऊपर की ओर फैलाकर हाथों से पादांगुष्ठ (पैर के अँगूठे) को पकड़ा जाता है। कतिपय अभ्यासी इसे मेरुदण्डासन कहते हैं। कुछ स्थित-ऊर्ध्वपाद-विस्तृत-आसन की संज्ञा भी देते हैं। वास्तव में मेरुदण्ड पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देखा जाता। अतः मेरुदण्डासन कहना मुझे समीचीन नहीं लगता। इस आसन से जिगर की कमजोरी और विविध दोष दूर होते हैं। इस कारण इसे यकृदासन भी कहा जा सकता है। इससे पीठ, कमर, नाभि, उदर भुजायें और पैरों को विपुल मात्रा में शुद्ध रक्त मिलता है। उनका सम्यक् व्यायाम होता है। अतः ये खूब परिपुष्ट होते हैं।



विस्तृत हस्त पादांगुष्ठासन

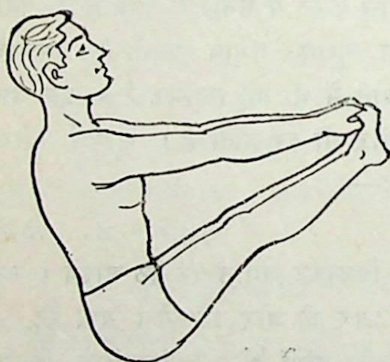
इससे शरीर में चुस्ती और स्फूर्ति आती है। धैर्य और आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है। काम करने में मन खूब लगता है क्योंकि समस्त स्नायु मण्डल पर इसका सुखकर प्रभाव पड़ती है। मूलाधार स्थिति कुण्डलिनी शक्ति के उत्थान में भी यह सहायक है। इस आसन से कब्ज तो मिटता ही है, बवासीर भी दूर होती है। सम्पूर्ण शरीर में शक्ति आती है। विधि निम्न है:—

सर्व प्रथम उपयुक्त बिछौना बिछाकर जमीन पर बैठ जाइये। उसके बाद अपने दोनों पैरों एक साथ ऊपर की ओर उठाइये। याद रहे, यह क्रिया दोनों पैरों को दाहिनी और बांयीं ओर अधिकाधिक फैलाकर करनी है। तदुपरान्त धीरे-धीरे सांस भरिये और दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़िये। इस स्थिति में पैरों को जितना सम्भव हो उतना ऊपर की ओर तानने की बल-पूर्वक कोशिश करते रहना चाहिए। दस सेकेन्ड से तीस सेकेन्ड तक इसी स्थिति में अपने को साँस रोके हुए अच्छी तरह से स्थिरता-पूर्वक साधे रहिये। फिर सांस छोड़ते हुए धीरे-धीरे अँगूठों को उन्मुक्त करके हाथ पैरों को स्वाभाविक स्थिति में लाइये जब तक श्वास स्वाभाविक न हो जावे, तब तक विश्राम कीजिए।

शान्त भाव से बैठे रहिये। फिर यदि करना है, तो इसी क्रम से कीजिए।

सामान्य साधक को यह आसन प्रतिदिन एक बार ही करना चाहिये प्रारम्भ में पांच या दस सेकेन्ड तक ही करें। फिर शनैः शनैः अवधि बढ़ाना उचित है। पूर्व स्थिति में आते समय शरीर को झटका नहीं लगना चाहिए। गर्भवती स्त्रियों को यह आसन भूलकर भी नहीं करना चाहिये, उनके लिए यह हानिकारक है। एक दिन में इसे हर किसी को करना सम्भव नहीं है। धैर्य-पूर्वक कई दिनों तक कोशिश करने से सफलता मिल सकती है।

उत्थित-हस्त-पादांगुष्ठासन



उत्थित हस्त पादांगुष्ठासन

यह विस्तृत-हस्त पादांगुष्ठासन का ही परिवर्तित रूप है। विस्तृत हस्त पादांगुष्ठासन में हाथों को विस्तृत करके (फैला कर) पैर के अंगूठे पकड़े जाते हैं, इसमें हाथों को ऊपर की ओर उत्थित (उठा) करके पैर के अंगूठे पकड़ते हैं। यही प्रधान अन्तर है।। कुछ योगीजन इसे उत्थित-हस्त मेरु-दण्डासन की संज्ञा देते हैं क्योंकि हाथ तो ऊपर की ओर उठाये जाते ही हैं, मेरुदण्ड पर भी पर्याप्त तनाव आता है।

इस आसन से मेरुदण्ड में लचीलापन आता है। मेरुदण्ड से निकालने वाले स्नायुसूज दृढ़ और पुष्ट होते हैं। पाक स्थली की नस नाड़ियों और मांस पेशियों की यकृत, तिल्ली और क्लोम-ग्रन्थि की कार्यक्षमता बढ़ती है। इन सबकी चैतन्यता से भोजन का योग्य पाचन होता है।

रक्त, वीर्य, ओज और शक्ति तथा आयु की वृद्धि होती है। अकाल में केश-पात या केश-पलित नहीं होते। विधि इस प्रकार है:—

सबसे पहले पृथ्वी पर बिछौना बिछाकर सामने की ओर पैरों को फैलाकर बैठ जाइये। दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाइये। दोनों पैरों को भी उठाइये। लम्बी सांस लीजिए और हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़िये। इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर कटि पर अवलम्बित रहे, नितम्ब पर नहीं। दोनों टांगें, जानु, घुटने और एड़ियाँ परस्पर मिली रहें। वे पूरी तरह से उसी प्रकार तनी रहें जिस प्रकार आपके हाथ सीधे और तने हुये होंगे। दस से तीस सेकेन्ड तक इसी स्थिति में अडिगता के साथ अपने को साधे रहिये। फिर धीरे धीरे सांस को छोड़िये। साथ ही हाथों और पैरों को यथा स्थान लाकर पहली स्थिति में बैठ जाइये। झटके के साथ शरीर पृथ्वी पर नहीं लाना चाहिए। कुछ समय तक विश्राम कीजिए। जब श्वास प्रश्वास स्वाभाविक हो जावे, तो इसी क्रम से यथेच्छ दुबारा करें।

इस आसन को प्रतिदिन एक बार करना ही पर्याप्त है। प्रारम्भ में पाँच या दस सेकेण्ड तक ही पूर्ण-स्थिति (पूर्णावस्था) में हाथों से अंगूठों को पकड़े। फिर शनैः शनैः पाँच पाँच सेकेण्ड प्रति सप्ताह बढ़ाते हुये आधा मिनट तक इसे लगाने का अभ्यास सिद्ध करें।

विस्तृत-हस्त पादांगुष्ठासन के बाद ही इस आसन को करना उत्तम है। दोनों ही आसन एक एक बार करके हाथ पाँव फैलाकर भूमि पर लेट जाना चाहिए और भावना पूर्वक शिथिलीकरण करना चाहिये। एक से दो मिनट तक, यदि अन्य आसन नहीं करना है, तो और अधिक समय तक लेट कर मन ही मन यह भाव चित्र बनावें कि अपनी एढ़ी, घुटने, जंघायें, उदरस्थ माँसपेशियाँ, फेफड़े, ग्रीवा, आँख, नाक, कान और मस्तिष्क सुन्न से हो रहे हैं, पूर्णतया शथिल हो गये हैं, ढीले हो गये हैं। इससे शारीरिक-मानसिक तनाव दूर होकर स्फूर्ति और ताजगी आती है।

विमानासन

विमान के पंख जिस प्रकार फैले हुये होते हैं, उसी के तुल्य शरीर की आकृति इस आसन में बनायी जाती है। इस कारण इस का नाम जो आकृति मूलक रक्खा गया है, वह सर्वथा उचित ही है। विमान आसन के नियमित अभ्यास से घुटने, जंघा, पिण्डली, स्कन्ध मूल, स्कन्ध, भुज-दण्ड और ग्रीवा को बड़ा बल मिलता है, क्योंकि इन पर तनाव-खिचाव भरपूर रहता है।

विमानासन से सीना चौड़ा होता है। फेंफड़े पुष्ट होते हैं। कंठ और फेंफड़े के अनेक दोष इस आसन की साधना से दूर होते हैं। यह आसन उदर-रोगों के निवारण में बड़ा सहायक है। उदर गुहा, उदर पेशियाँ, छोटी बड़ी आँतें, क्लोम, जिगर, पेड़ू और अधिवृक्क पर इसका सुखकर प्रभाव पड़ता है। विमानासन से इनमें जो दबाव पड़ता है, वह इनके आम दोषों को दूर करने वाला है। इनकी कार्यक्षमता को बढ़ाने वाला है। यह आसन सम्पूर्ण शरीर को स्फूर्ति और ताजगी से पूर्णतया भर देता है, मानसिक अवसाद को शीघ्र ही दूर करता तथा चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करता है। विधि निम्न है:—

सबसे पहले पेट के बल पर लेट जाइये और दोनों पैरों को परस्पर मिला लीजिए तथा उन्हें पूरी तरह से ताने रखिये। जिससे वे मुड़ें नहीं। अब दोनों पाँवों को दायें बायें फैला दीजिए। अंगुलियां परस्पर मिली हों और हथेली जमीन की ओर रहें। हाथ एक दम सीधे, तने रहने चाहिए। उसके बाद धीरे धीरे सांस अन्दर भरिये और घुटनों तथा सीने को ऊपर की ओर उठाइये। सिर को भी कुछ ऊपर उठा लीजिए। पेट, पेड़ू और जंघायें पृथ्वी से चिपटी रहनी चाहिए।

यथा शक्ति सांस रोके रखिये और इसी स्थिति में अपने को ठीक प्रकार ताने रखिये। फिर धीरे धीरे सांस छोड़िये और पूर्व स्थिति में आ जाइये।

विमानासन प्रतिदिन उपर्युक्त क्रम से कम से कम पाँच बार तक प्रतिदिन करना चाहिए। शरीर बल, आयु और अभ्यास के अनुसार इसे पन्द्रह बीस बार तक किया जा सकता है। यह अपेक्षाकृत सरल व्यायाम है, फिर भी 'अति' इसकी भी बुरी है।

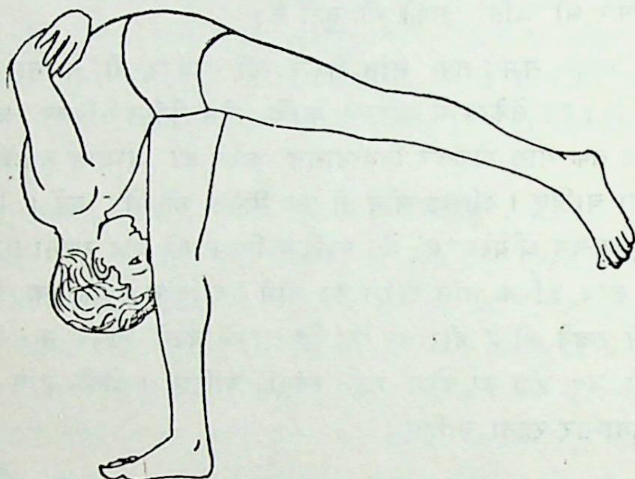
अधिक समय तक सांस रोकने की जबरदस्ती करना समीचीन नहीं हैं। दस सेकेन्ड से प्रारम्भ करके तीस पैंतीस सेकिण्ड अथवा एक मिनट तक सांस रोककर विमानासन करने का अभ्यास शनैःशनैः सिद्ध करना चाहिए। बलिष्ठ लोग ही एक मिनट की ओर बढ़ें। निर्बलों के लिए अल्पम् श्रेयस्करम् के स्वर्णिम नियम को याद रखना चाहिए। वे एक साथ अधिक सांस रोकने का लोभ कदापि न करें। एक बात और ध्यान रखने की है और वह यह कि आपके घुटने अधिक न उठने पावें। उनसे ४५ अंश का कोण भर बनना चाहिए। दोनों हाथ पृथ्वी के समानान्तर रहना चाहिए।

एकपाद जानु-स्पर्शासन

इस आसन में एक पैर ऊपर की ओर उठाया जाता है और दूसरे पैर के घुटने से सिर लगाया जाता हैं। इसी कारण इसे एकपाद जानु स्पर्शासन कहते हैं। इस आसन से मेरुदण्ड की स्थिति-स्थापकता (लचीलापन) बनी रहती है। पृष्ठ की मांसपेशियाँ और नस नाड़ियाँ सबल होती हैं, जिस कारण बुढ़ापे के उपसर्ग (चिह्न) समय पूर्व नहीं आने पाते हैं। कमर-दर्द, पृष्ठवंशीय शूल जैसे रोग भी नहीं होने पाते। वातिक पीड़ा को शमन करने में बड़ा सहायक है।

एक पाद जानु स्पर्शासन से पांव, पादगुल्फ, घुटना, जंघामूलादि के साथ ही उदर गुहा का डायाफ्राम का, यकृत्-तिल्ली और पक्वाशय का भलीभांति व्यायाम होता है, जिससे इन सभी अंग की कार्यक्षमता बढ़ती है। नस-नस में शुद्ध रक्त और शक्ति का संचार होने से दैनिक कार्य में

मन खूब लगता है। उदर रोगों के दूरीकरण और मेदोवृद्धि के हरण के लिए यह बड़ा उपयोगी है। इससे शिरःशूल भी नष्ट होता है। इस विधि से इसे करना चाहिए:—



एकपादजानुस्पर्शासन

सर्व प्रथम दोनों पैरों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाइये। फिर दोनों हाथों को पीठ पीछे ले जाइये। दाहिने हाथ से बाँयी कोहनी को और बाँये हाथ से दाहिनी कोहनी को पकड़िये।

उसके बाद सांस को बाहर निकालिये और कमर से ऊपरी भाग को नीचे की ओर झुकाते हुये माथे को दाहिने घुटने से लगाइये।

यथाशक्ति सांस को बाहर ही रोके हुए इसी स्थिति में अपने को साधे रहिये। ध्यान रहे, इस पूर्णावस्था में दाहिना पैर एक दम सीधा रहना चाहिये और बाँया पैर उठकर पृथ्वी के समानान्तर आना है।

तत्पश्चात् धीरे धीरे सांस लेते हुए पूर्व स्थिति में आ जाइये। बाँये पैर को जमीन पर ले आइये और कमर सहित ऊपरी भाग को सीधा तानिये अब यही क्रिया उपर्युक्त क्रम से बाँये पैर के घुटने से

सिर लगाने के रूप में कीजिए। ध्यान रहे, सिर लगाने का कार्य साँस बाहर निकाल कर ही करना है।

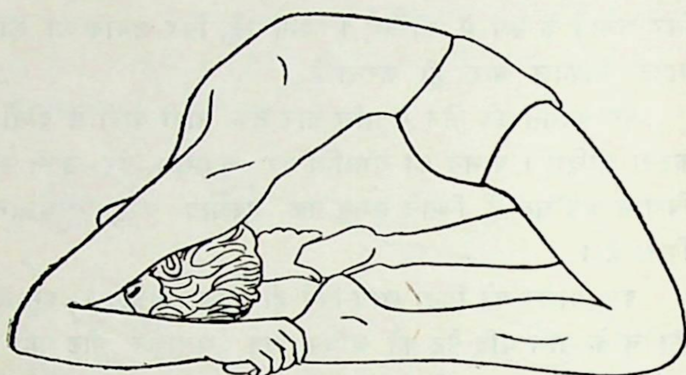
इस आसन को तीन से पाँच बार तक बारी बारी से दोनों पैरों से करना चाहिए। आसन की समाप्ति पर शवासन पर उतने समय तक विश्राम अपेक्षित है, जितने समय तक एकपाद जानु स्पर्शासन आपने किया है।

इस आसन को बिना खाये-पिये ही करना चाहिये। इस समय गुद संकोच के साथ यदि पेट को अधिकाधिक फुलाकर पीठ की ओर ले जाने का यदि प्रयत्न भी किया जावे, तो उससे बड़ा लाभ होता है। इस प्रयोग से उदरस्थ मांस पेशियाँ तो स्वस्थ और सशक्त होती है, गुद-नलिका की नस नाड़ियाँ और मांस पेशियाँ भी बलिष्ठ होती हैं। बवासीर के रोगियों के लिए यह प्रयोग निश्चय ही रामबाण मंदवृद्धि वालों को यदि प्रारम्भ में कुछ कठिनाई लगे, तो घबरावें नहीं। धीरे धीरे कुछ सप्ताह के प्रयोग से वे भी इसे साधने लगेगें।

हस्तपाद चक्रासन

इस आसन में पैर को हाथों से पकड़कर शरीर को चक्र के समान ऊपर उठाते हैं। क्रिया के अनुसार ही इसका नाम 'हस्तपादी चक्रासन' रक्खा गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। इस आसन से सम्पूर्ण शरीर की नस नाड़ियां मांस पेशियां शुद्ध, सशक्त और लचीली होती हैं। अंग प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ होता है। रक्ताभिसरण क्रिया सुधरती है। रक्त विकार दूर होते हैं। कमर, मेरुदण्ड, उदर, कण्ठ, फेफड़े तथा अन्तः स्रावी ग्रन्थियों के विविध दोष इसके अभ्यास से दूर होते हैं। निम्न विधि से इसे करें:—

सबसे पहले पैरों को मोड़िये और घुटनों के बल खड़े हो जाइये। धीरे-धीरे श्वास को अन्दर भरते हुये दोनों हाथों को ऊपर की ओर



हस्तपाद चक्रासन

तानिये। क्रमशः उन्हें पीठ के पीछे इतना झुकाइये कि दोनों हाथों से एड़ियों को पकड़ लें। इस स्थिनि में घुटने और कोहनियां पूरी तरह से जमीन से सटी रहनी चाहिये। उदर और वक्ष को ऊपर की ओर तानिये जिससे अर्ध चक्र सा बन जावे, जितने समय तक सांस आसानी से अन्दर रोक सकते हैं, रोके रहिये। फिर शनैः शनैः सांस छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाइये। उतावलेपन के साथ नहीं उठिये। शनैः शनैः ही उठना चाहिए।

इस आसन को प्रतिदिन एक बार करना चाहिए। योग्य गुरु के परामर्श से रोग विशेष के दूरीकरण के लिए इसे तीन से पांच बार तक भी कर सकते हैं। स्वाभाविक रीति से श्वास-प्रश्वास लेते हुए भी इस आसन को किया जा सकता है। उस अवस्था में सात मिनट तक इस आसन पर तना रहा जा सकता है।

द्विहस्त चालनासान

इस आसन में हाथों को ऊपर नीचे जल्दी-जल्दी किया जाता है। यह एक प्रकार का द्रुत-व्यायाम या पी० टी० (एजिलिटी इक्सरसाइज)

है। इसलिए इसे द्रुत हस्तचालनासन भी कहते हैं। कई अभ्यासी इसका नाम विवृत करण-आसन भी बताते हैं।



द्विहस्त चालनासन

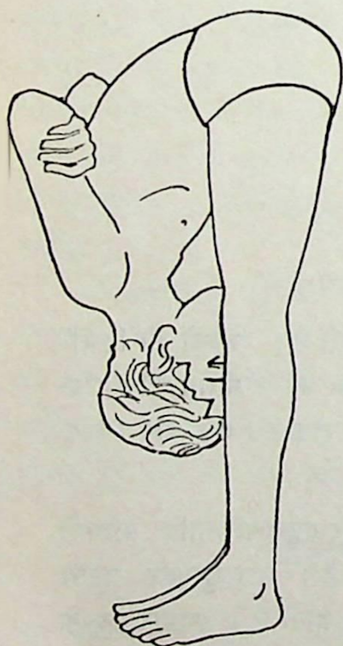
इस आसन से समस्त शरीर में स्फूर्ति आती है। फेफड़ों की क्रियाशीलता और कार्य क्षमता बढ़ती है। कोष-कोष का उन्मीलन और परिशोधन होता है। फुफ्फुस के सभी विकार नष्ट होते हैं। क्षय, क्षयज-कास और दूसरे उपसर्ग शान्त होते हैं।

उदर गुहा, डायाफ्राम, उदर-पेशियों और यकृत्-क्लोमादि ग्रन्थियों का भरपूर चालन होने से पाचनशक्ति बढ़ती है। भूख खुलकर लगती है। कब्ज मिटता है। उदर की चर्बी घटती जाती है। आहार रस के सम्यक् पाक बल-वीर्य की वृद्धि होती है। रोग-निरोधिनी शक्ति सचेष्ट होती है। निम्न विधि से इसे करना चाहिए:—

टाँगों को डेढ़ दो फीट की दूरी पर फैलाकर खड़े हो जाइये। और नॉसापुटों से सांस भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर खूब तानिये फिर सांस छोड़ते हुये तेजी से उन्हें पैरों के बीच में से पीछे की ओर लाइये। इस स्थिति में शिर भी नीचे की ओर झुक जाता है। इसके बाद सांस भरते हुए पुनः तेजी से ऊपर की ओर अधिकाधिक तानिए।

यह क्रिया तीव्रता के साथ श्वास लेते और छोड़ते हुई कई बार कीजिई। बीस से पचास बार तक इस आसन को —हाथों को ऊपर नीचे लाने की क्रिया को किया जा सकता है। यह हल्का, सर्वोपयोगी निरापद व्यायाम है इस आसन को करने के बाद शवासन पर विश्राम अवश्य करें।

पृष्ठ-बद्ध जानु स्पर्शासन



पृष्ठबद्ध जानुस्पर्शासन

इस आसन में हाथों को पीठ के पीछे बाँध कर सिर को घुटनों से सटाया जाता है। इसी कारण इसे पृष्ठबद्ध जानु-स्पर्शासन कहते हैं। स्पष्ट ही है, इस आसन से पादतल, पाद-गुल्फों, घुटनों, जंघाओं के अतिरिक्त कमर मेरुदण्ड और ग्रीवा पर सर्वाधिक तनाव रहता है। शिथिलता की स्थिति में इन अंगों में शुद्ध रक्त का प्रवाह तीव्र गति से धावित होता है और इन्हें यथेच्छ पोषण देकर सशक्त बनाता है।

यह आसन उदर-रोग के रोगियों के लिये बड़ा हितकर है। 'कब्ज' के पुराने रोगियों को

इसका नियमित अभ्यास करना चाहिए। स्नायु मण्डल को शुद्ध, निरोग और सशक्त बनाने के लिए यह प्रसिद्ध है। इससे अंग २ में स्फूर्ति और ताजगी आती है। मेद वृद्धि का नाश होता है। आयु बढ़ती है। विधि इस प्रकार है:—

दोनों एड़ियों को मिलाकर सीधे हो जाइये। हाथों को पीठ की ओर ले जाइये और कोहनियाँ मोड़कर उन्हें परस्पर बांध लीजिए। सांस को बाहर निकालिये और सिर को नीचे झुकाकर घुटनों से लगाइये। शक्ति भर सास को बाहर रोके हुए अपने को इसी स्थिति में साधे रहिये। ध्यान रहे, आपके घुटने मुड़ने न पावें पैर भी अपने स्थान से नहीं हटने चाहिये। फिर धीरे-धीरे सांस अन्दर लेते हुये पूर्व स्थिति में आ जाइये। कुछ सेकिन्ड विश्राम करके पुनः कीजिए।

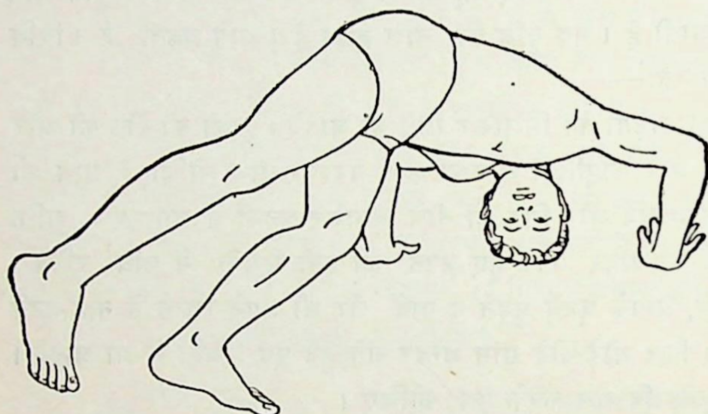
इस आसन को एक से तीन बार प्रतिदिन करना चाहिए। रोगादि की मुक्ति के लिये अधिक बार भी कर सकते हैं। समाप्ति पर शवासन करें।

हस्तशीर्ष चक्रासन

इस आसन में हाथ और सिर के सहारे सम्पूर्ण शरीर को मण्डलाकार घुमाया जाता है। इसी कारण इसे हस्त-शीर्ष चक्रासन कहते हैं। गुणों में चक्रासन और अर्ध चक्रासन के समान ही यह आसन है। इससे सम्पूर्ण शरीर का भलीभाँति व्यायाम हो जाता है। इसी से कुछ लोग इसे सर्वाङ्ग चक्रासन भी कहते हैं।

इस आसन से गर्दन की सभी ओर गति रहने के उसकी स्थिति-स्थापकता, लचीलापन और कोमलता तो बढ़ती है। थायरायड तथा पैरा थायरॉयड के सभी रोध, सभी दोष दूर होते हैं। कण्ठमाला, गलगण्ड जैसे रोग इसके अभ्यासी को नहीं होने पाते। इन रोगों के निवारण में भी इससे सहायता मिलती है। हस्त-शीर्ष चक्रासन से अंश प्रत्यंग की नस नाड़ियाँ खुल जाती हैं। रक्ताभिसरण क्रिया की मन्दता दूर होती

है। रक्त का संचार सवेग होने से आमदोष मिटते हैं। यह आसन रक्त शोधक भी है।



हस्तशीर्ष चक्रासन

इस आसन से सभी धातुओं को पर्याप्त पोषण मिलता है। शरीर बल बढ़ता है। यह बुढ़ापे को दूर भगाता है और मुँह आदि पर झुर्रियाँ नहीं आने देता है। किम्बहुना यह सम्पूर्ण शरीर को सुडोल बनाता है। कांतिवर्धक है। दीर्घायु को देने वाला है। विधि इस प्रकार है:—

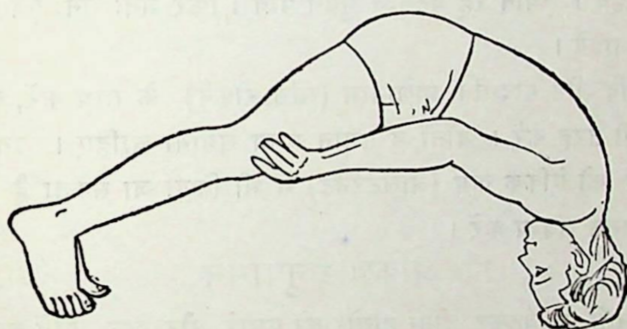
सर्व प्रथम जमीन पर गद्दा बिछाकर पेट के बल लेट जाइये। हथेलियों को सामने की ओर कुछ दूरी पर स्थापित कीजिए। सिर को भी भूमि से लगाइये। अब हाथों और सिर के बल सम्पूर्ण शरीर को ऊपर उठाइये। पैर फैले रहना चाहिए। पंजों, हथेलियों और सिर पर सारा शरीर रहना चाहिए। अब पैरों को चारों ओर चक्रवत् घुमाइये। यथाक्रम सिर और हथेली भी घूमती रहना चाहिए। ध्यान इस बात का रखें कि पैर हर दशा में सीधे ही रहें। पहले बाँयें से दाहिनी ओर तीन चक्कर लगाइये। फिर दाँयें से बाँयीं ओर को तीन चक्कर लगाइये।

यह आसन इसी क्रम से एक या दो बार किया जाना चाहिए। आसन की समाप्ति पर पीठ के बल सीधे लेट कर तीन चार मिनट तक

शान्त भाव से विश्राम करना अत्यावश्यक है। कुछ लोग इसे करते समय सिर को जमीन पर नहीं रहने देते। उसे ऊपर उठा लेते हैं। और चारों ओर चक्कर लगाते हैं। ऐसा करते समय हथेलियाँ अपने स्थान पर जमी रहना चाहिए। असल में यही सर्वांग चक्रासन है। सिर जमीन पर लगाने से हस्त-शीर्ष चक्रासन हो जाता है।

शीर्ष-पाद-विलोमासन

यह शीर्ष-पाद आसन का विलोम है। शीर्षपादासन में पीठ के वल लेटा जाता है, जबकि इसमें पेट के वल लेटा जाता है। शीर्ष-पाद आसन



शीर्षपाद विलोमासन

में नस नाड़ियाँ तथा माँस पेशियाँ जिस ओर को तानी जाती हैं, इसमें उसके विपरीत दिशा में उन पर तनाव रहता है। शरीर के सम्यक् विकास के लिए अंग-प्रत्यंग का उभयात्मक व्यायाम किया जाना चाहिए, शीर्ष-पाद विलोमासन पूर्वोक्त आसन की एकांगिकता की पूर्ति करता है। इस कारण इसे उसका परिपूरक कहना समीचीन हैं। इसी आधार पर कुछ योगीजन इसे शीर्ष-पाद पूरक-आसन भी कहते हैं।

इस आसन सिरोभाग तथा पादांगुष्ठ के पास दो कोण बनते हैं। इस हेतु इसे द्विकोण आसन की संज्ञा भी दी जाती है। इस आसन से पाकस्थली पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। रक्ताभिसरण की मन्दता दूर

होती है । दोष-संश्रय का नाश होता है । अंग-प्रत्यंग पुष्ट होते हैं । नस नाड़ियाँ और मांस पेशियाँ लचीली होती हैं । जिससे बुढ़ापा नहीं आने पाता है । आयु और शक्ति बढ़ती है । विधि इस प्रकार है:—

पेट और छाती के बल पैर फैलाकर जमीन पर लेट जाइये । सिर को नीचे की ओर झुकाइये, हनु (ठोड़ी) को कण्ठ कूप से सटाइये । अब हाथ का सहारा देकर झुके हुए सिर तथा फैले हुए पैर की अँगूठे व उँगलियों के बल पर घुटने, जानु, उदर और वक्ष को ऊपर उठाइये । हाथों को घुटनों पर रख दीजिए । इसी स्थिति में पन्द्रह सेकेन्ड से एक मिनट तक रहिये । ध्यान रहे घुटने न मुड़ने पावें । फिर शनैः शनैः पूर्व स्थिति में आ जाइये ।

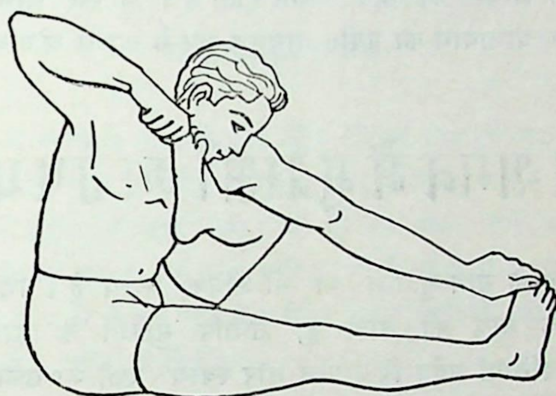
यदि शीर्ष पादासन प्राणायाम (सांस रोकने) के साथ करें, तो इसे भी उसी तरह करें । दोनों में समान समय लगाना चाहिए । इन दोनों आसनों को ऐकिक क्रम (आलटरनेट) से भी किया जा सकता है । अन्त में शवासन अवश्य करें ।

आकर्ण धनुषासन

धरती पर बैठकर दोनों टाँगों को पसारें और फिर दाँयें हाथ से दाँयें पाँव के और बाँयें हाथ से बाँयें पाँव के अँगूठे को पकड़ें । फिर बाँयें पाँव के अँगूठे को हाथ से पकड़े हुए ही धीरे-धीरे उठाते हुए बाँयें कान तक ले जायें और दाँये पाँव को पूर्ववत् दाँयें हाथ से पकड़े रहें । इस स्थिति में दाँया पाँव बिना मुड़े या टेढ़ा हुए एकदम सीधा रहना चाहिए । यह आसन कई दिनों के अभ्यास से सिद्ध होता है । यह अंग बदल कर भी किया जा सकता है बाँयें पाँव के अँगूठे को कान तक ले जाने के बजाय दाँयें पाँव के अँगूठे को कान तक ले जा सकते हैं । उस स्थिति में बाँया पाँव सीधा रहेगा ।

किसी रोग के निवारणार्थ इस आसन को करने के साथ प्राणायाम क्रिया भी करनी चाहिए । उसे इस प्रकार करें कि पाँव को उठा कर

कान तक ले जाते समय गहरा श्वास खींचें २ से ५ सैकिण्ड तक, फिर अँगूठे को कान तक लगाये रखने के समय श्वास को भीतर रोकें ४ से १० सैकिण्ड तक, तत्पश्चात् पूर्ण स्थिति में आते समय धीरे-धीरे श्वास छोड़ देना चाहिए।



आकर्ण धनुषासन

इस प्रकार ५-७ बार इसकी पुनरावृत्ति करें। पुनरावृत्ति से पूर्व २-३ मिनट विश्राम कर लेना उचित रहता है। इसे सिद्ध करने के लिए सर्व प्रथम धरती पर बैठ कर दोनों हाथों से दोनों पाँवों के अँगूठे पकड़ने का अभ्यास करना चाहिए। उस स्थिति में पाँवों का सीधा रहना आवश्यक है। जब तक ऐसा न हो तब तक अभ्यास की पूर्णता नहीं होती। इसके बाद पाँव को कान तक ले जाने का अभ्यास करना उचित है।

इससे भुजदण्ड, पाददण्ड, हाथ, पाँव, घुटने, जंघा, पसलियाँ, हृदय, फुफ्फुस आदि अंगों को सबल बनाने वाला श्रेष्ठ व्यायाम होता है। नस-नाडियाँ लचीली हो जाती हैं तथा उदर, कटि और वक्षस्थल के विकार मिट जाते हैं। शरीर में बल, साहस, स्फूर्ति, ताजगी आदि का समावेश होने से चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

चोट, मोच, वायु-विकार से उत्पन्न सूजन और दर्द आदि में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। प्राणायाम के बिना भी यह आसन शरीर के अवयवों में लचक उत्पन्न कर देता है, जिससे सामान्य चोट आदि से लगने वाले आघात को सहन करना होता है। अधिक लाभ के लिए इसके साथ प्राणायाम का प्रयोग तालवद्ध रूप में करना श्रेयस्कर है।

रोग शमन में मुद्राओं का उपयोग

आसन के साथ मुद्राओं का भी अधिक महत्व है। यद्यपि मुद्राएँ आसनों के साथ की जाती हैं, तथापि मुद्राओं के द्वारा शरीर की सभी ग्रन्थियाँ सदैव क्रियाशील और स्वस्थ रखी जा सकती हैं तथा ग्रन्थियों से जो रसमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनके अभाव में शरीर अनेक व्याधियों का शिकार होजाता है। यदि ग्रन्थियाँ क्रियाशील रहें तो उनसे उत्पन्न होने वाला रस रक्त में मिल कर शरीर को व्याधियों से बचाता और उसका सुगठन एवं सौन्दर्य स्थायी रूप से बना रहता है। परन्तु मुद्राओं का अभ्यास वयस्कों के लिए ही हितकर है, बालकों को उनका अभ्यास नहीं करना चाहिए। क्योंकि बाल्यकाल में ग्रन्थियाँ अपरिपक्व होती हैं, उन्हें मुद्राओं के अभ्यास द्वारा परिपक्व और पुष्ट करने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में बाधा उत्पन्न हो सकती है,

योगाचार्यों ने बन्धों के सहित पच्चीस मुद्राओं का उल्लेख किया है। उनमें से अत्यन्त उपयोगी प्रमुख मुद्राओं का वर्णन करना उचित होगा। फल का कथन करते हुए मुद्राओं को दिव्य अष्ट सिद्धियाँ देने वाली स्वीकार किया गया है।

उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध और महावेध के नाम से पाँच वन्धों का वर्णन प्रायः सभी योगशास्त्रों में मिलता है, यह सभी

मुद्राओं के अन्तर्गत और अनेक प्रकार के रोगों का शमन करने वाले हैं। कुछ विद्वानों ने महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध के रूप में पाँच महामुद्राओं का वर्णन किया है। वे सभी लौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार के सुखों के देने वाली हैं।

उड्डीयान बन्ध

उदर में नाभि के ऊपर के भार और पश्चिम द्वार को उदर के सम-भाव में सिकोड़ने से उड्डीयान बन्ध होता है। आशय यह है कि उदर-स्थ टूंडी में नाभि के ऊपर नीचे भागों को इस प्रकार तानें कि वे दोनों भाग पीठ में जा लगें। यह बन्ध सभी बन्धों में प्रमुख हैं। इसमें उदर के नीचे के भाग में स्थित गुह्यादि चक्रों की सब नाड़ियों को नाभि से ऊपर की ओर उठाना चाहिए।

यह बन्ध बैठ कर या खड़े होकर भी किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार में शरीर को आगे की ओर झुका कर हथेलियों को जाँघों पर या घुटनों पर रखें और उदर को सिकोड़ें, जिससे कि वहाँ एक गढा जैसा बन जाय। उदर संकोच की यह क्रिया तब तक करें, जब तक कि कुम्भक प्राणायाम द्वारा श्वास को सरलता से रोक सकते हों। इसमें उदर की माँसपेशियाँ पीछे की ओर नहीं तननी चाहिए।

इसके अभ्यास से उदर के भारीपन एवं मलावरोध आदि में लाभ होता है। अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, पित्तज शूल तथा पित्त-पथरी आदि का शमन होता है। चेचक, विशूचिका, स्त्रियों के प्रदरादि विकार तथा मासिक गड़बड़ी भी दूर होजाती है। इस प्रकार स्त्रियों के लिए भी यह हितकर है। इसका अभ्यास करने वाले को स्नायविक रोग भी नहीं होते। 'अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते' कह कर योग-शास्त्रियों ने स्पष्ट कर दिया है कि इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो-

जाता है। इसमें प्रकट है कि यह बन्ध पुरुषों के सभी रोगों को दूर कर पुष्टि प्रदान करने में समर्थ है।

जालन्धर बन्ध

कण्ठ का संकोच करने और हृदय पर ठोड़ी रख लेने से जालन्धर बन्ध होता है। योगियों के अनुसार नीचे की ओर होने वाले अमृत-रस का स्राव इसके अभ्यास से शिर में ही स्थिर रहता है, इसीलिए इस बन्ध का मृत्यु को नाशक कहा गया है।

योग शास्त्रों का सिद्धान्त है कि मस्तष्क में अमृत का आविर्भाव होता रहता है, जिसके वहीं स्थिर रहने पर मनुष्य अत्यन्त स्वस्थ और दिव्य सौन्दर्य से सम्पन्न रहता है। परन्तु विपरीत आहार-विहार के कारण मस्तक में उत्पन्न होने वाला अमृत नीचे की ओर स्रवित होता हुआ उदरस्थ अग्नि (जठरानल) को मन्द करता रहता है। इसी कारण शरीर में अग्निमांद्यादि रोग उत्पन्न होजाते हैं।

उक्त बन्ध में कण्ठ का संकोच होने से ग्रन्थियों से उत्पन्न होने वाले रस का स्राव सही प्रकार से होता है और वह रक्त के साथ मिश्रित होकर शरीर को स्वस्थ और दृढ़ बनाने में सहायक होता है। इस बन्ध के अभ्यास से अनेक प्रकार के उदर-रोग नष्ट होजाते हैं।

मूलबन्ध

इसमें बाँयी एड़ी के द्वारा गुह्य प्रदेश को संकुचित करने और नाभि-ग्रन्थि को मेरुदण्ड में प्रयत्न पूर्वक लगाने का निर्देश है तथा दाँयी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता पूर्वक दबा लेना कहा है। इससे वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ व्यक्ति भी तरुण के समान हृष्ट-पुष्ट होजाता है।

मस्तक के आधार से प्रारम्भ और गुह्य प्रदेश के समीप अन्त वाली रीढ़ की अस्थि के अन्त-स्थान से अनेक स्नायु और शिराओं का प्रारम्भ हुआ है। इस स्थान को योगाचार्यों ने मूलाधार चक्र का नाम दिया है और मूलबन्ध का अभ्यास यहाँ सहायक होता है।

पुरुषों के मूत्र स्थान के दोनों ओर कामग्रन्थियाँ हैं, जो कि काम-सम्बन्धी विचार और चेष्टा के कारण हर्ष को प्राप्त होती हैं। इन ग्रन्थियों के ही समान स्त्रियों के भी इसी स्थान पर रति ग्रन्थियों की स्थिति है। गुद और मूत्राशय के मध्य वाले स्थान को योनिमण्डल कहते हैं। इसी के ऊपर रीढ़ का वह अन्त-स्थान है, जो कि कन्द स्थान भी कहलाता है। यहाँ से इडा नाडी और पिंगला नाड़ी प्रारम्भ होती है। परन्तु इडा बाँयी ओर और पिंगला दाँयी ओर चढ़ती हुई एक ही स्थान पर समाप्त होती हैं।

तीसरी प्रमुख नाड़ी और है—सुषुम्ना। यह भी कन्द स्थान से प्रारम्भ होकर कण्ठ तक पहुँचती और वहाँ से दो भागों में बँट कर, एक भाग ललाट तक और दूसरा ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है। इस प्रकार यह तीनों नाड़ियां श्वास क्रिया को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करती हैं।

मूल स्थान से ही कुहू और शंखिनी नामक दो नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें मूत्र को रोकने के लिए कुहू नाड़ी और मल को रोकने के लिए शंखिनी नाड़ी को खींचना होता है। इस शंखिनी नाड़ी के खींचने से गुदा का संकोच होता है, जो कि इस बन्ध में करना आवश्यक है।

इसके अभ्यास से शरीरस्थ मल का अवरोध नष्ट होजाता है, भूख खुल कर लगती है। आलस्य और भारीपन नहीं रहता, इसलिए शरीर में स्फूर्ति और ताजगी बनी रहती है। पुरुषों के धातु रोग, शीघ्रपतनादि, स्त्रियों के रजोदोष एवं बवासीर आदि रोगों का भी शमन होता है।

महाबन्ध

योनि स्थान को बाँये पाँव की एड़ी से दबा कर उस एड़ी को दाँये पाँव से दबाले और गुह्य प्रदेश को धीरे-धीरे चलाता हुआ संकुचित करे तथा जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणवायु का धारण करे। इसका अभ्यास बाँए और दाँए दोनों ही अंगों से कर सकते हैं।

महाबन्ध मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध के सम्मिश्रण से बनता है। इससे गर्भाशय शोथ, प्रदर, पेडू का दर्द, उपस्थ-विकार, धातु-विकार आदि स्त्री-पुरुषों के सभी रोग मिट जाते हैं। साथ ही कोष्ठबद्धता, यकृतप्लीहा के विकार एवं अर्शादि का भी शमन होता है। इस क्रिया में दाँये पाँव को घुटने से मोड़ कर मूत्राशय पर दबाव डाला जाता है और घुटने से धरती को दबाते हैं। बाँया पाँव सीधा पसार कर उसके अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ना होता है। यह बन्ध तरुण स्त्री-पुरुषों के लिए भी हितकर है।

महावेध

इसमें पद्मासन या सिंहासन लगा कर बैठना चाहिए। फिर एकाग्रता पूर्वक कण्ठमुद्रा द्वारा वायु की गति का निरोध करे और नासारन्ध्रों का संकोच करे तो वायु शीघ्र भर जाती है। प्रथम महाबन्ध का अभ्यास कर उड्डीयान बन्ध के द्वारा वायु को रोका जाय। इस महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध करना अत्यन्त हितकर माना जाता है। प्राणायाम का अभ्यास हो तो यह मुद्रा शीघ्र सिद्ध होजाती है।

वायु को उदर से बाहर निःसृत करें तथा गुद स्थान और कामको ऊपर की ओर खींचें, फिर वायु खींचते समय इन शिराओं को ढीली छोड़ दें। इसमें श्वासावरोध की जितने समय तक की क्षमता हो, उतने समय तक ही रोकें। इसके अभ्यास से स्त्री-पुरुषों के प्रजनन अंग पुष्ट होते हैं तथा प्रदर, प्रमेह एवं कफज आदि विकारों का भी शमन होजाता है।

महामुद्रा

योनि स्थान को बाँए पाँव के तलुए से पीड़ित कर दाँए पाँव को पसारें और उसे हाथों के द्वारा दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें। ठोड़ी को वक्ष से लगा लें और कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करें तथा वायु को

ऊर्ध्वदेश में धारण करें । इसके अभ्यास से दुष्ट व्रण, नासूर, विष-दोष तक का शमन होता है । मलावरोध, उदर का भारीपन, अपच एवं यकृत आदि के विकार भी दूर होजाते हैं ।

यह मुद्रा उपर्युक्त से विपरीत क्रम द्वारा भी की जा सकती है । अर्थात् दाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को दबा कर दाँये पाँव को पसारने और हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ने से भी साध्य होती है । इसलिए दोनों क्रमों से ही अभ्यास करना उचित है ।

खेचरी मुद्रा

योग शास्त्रों में वर्णित यह मुद्रा भी बहुत प्रसिद्ध है । कपाल कुहर में विपरीत हुई जीभ के प्रविष्ट होने और भौंहों के बीच दृष्टि रहने से यह मुद्रा सिद्ध होती है । इसमें जीभ को ऊपर की ओर उलट कर पीछे की ओर ले जाय और कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करने का अभ्यास करे । यद्यपि इस क्रिया में जिह्वामूल की नाड़ी को शस्त्र से छेदा जाता है, जो कि किसी शल्य-चिकित्सक द्वारा करा सकते हैं, परन्तु ऑपरेशन न करायें तो भी इसका अभ्यास करने से जिह्वामूल के सभी रोग, कण्ठ-विकार, स्वरभंग आदि का शमन होता और दृष्टि भी तीव्र होती है ।

धातुओं की विषमता से उत्पन्न दोष, रक्तदोष एवं निर्बलता आदि में भी यह हितकर है । इसके अभ्यास से युवावस्था बनी रहती है और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है ।

विपरीतकरणी मुद्रा

इस मुद्रा के अभ्यास में नीचे शिर और ऊपर पाँव करना होता है । योगाचार्यों ने 'ऊर्ध्व नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी' अर्थात् ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु होने से ऊर्ध्वभाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा हो जाता है, यही विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है ।

पीठ के बल धरती पर लेट कर पाँवों को परस्पर मिले हुए ऊपर की ओर उठावें और नितम्बों को हाथों से सहारा देकर उठते हुए चले जाँय। इस प्रकार पूरा शरीर उल्टा खड़ा हो सकता है। इसका अभ्यास प्रारम्भ में एक-आध मिनट से बढ़ाते हुए तीन-चार मिनट तक करना चाहिए।

इसके अभ्यास से तरुणावस्था में स्थायित्व आता है यानी बुढ़ापा नहीं घेरता और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है, मस्तिष्क में विद्यमान जीवनी-शक्ति का संचार करने वाली ग्रन्थि इससे पुष्ट होती और समूचे शरीर में सार पदार्थ को समान रूप से पहुंचाने में सहायक होती है।

यह मुद्रा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, खान-पान को पचाने वाली तथा वली-पलित (शिर के बालों का पक कर श्वेत होना या गंजापन आदि) को दूर करने वाली है। रक्त की कमी निर्बलता, कुरूपता आदि का शमन करने में भी हितकर है। शिरशूल, चक्कर आना, अचेतता आदि में लाभ पहुँचाती तथा चर्म रोग, मुँहासे, झुर्री आदि को भी मिटाती है। यदि उपर्युक्त प्रकार से अभ्यास करने में कठिनाई प्रतीत हो तो दीवाल के सहारे से खड़ा होना प्रारम्भ करें और धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ावें।

परन्तु ध्यान रहे कि इस मुद्रा को करने वाले के लिए अल्पाहार (कम भोजन) नहीं करना चाहिए। क्योंकि मुद्रा से प्रदीप्त होने वाली जठराग्नि के लिए उचित आहार आवश्यक है। अल्प भोजन करने से हानि हो सकती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा

वज्रासन लगाकर बैठे और दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों के द्वारा दृढ़ता पूर्वक पकड़ ले और कन्द स्थान को प्रपीड़ित करे। फिर धीरे-धीरे वायु खींचते हुए कुहू और शखिनी नाड़ियों को अन्यान्य नाड़ियों

के सहित ऊपर की ओर ताने। ऐसा करने से गुह्य प्रदेश और नाभि प्रदेश का पीठ की ओर आकर्षण होता है। प्रारम्भ में यह अभ्यास १०-१५ सेकण्ड ही करना चाहिए और फिर धीरे-धीरे वायु को छोड़ते हुए नाड़ियों को भी ढीली छोड़ दे। यह क्रिया प्रातःकाल दोनों समय १०-२० बार तक कर सकते हैं और कुछ समय भी बढ़ा सकते हैं।

इसके अभ्यास से काम जनित विकारों का शमन और ऊर्ध्वरेतत्व (वीर्य को ऊपर आकर्षित करने) की शक्ति प्राप्त होती है। वृद्धावस्था में भी तरुणों के समान बल का वर्द्धन होता है। यह क्रिया वृद्धावस्था को रोकने और दीर्घ आयु प्राप्त कराने वाली है। वीर्य-रोगों के कारण उत्पन्न नपुंसकता आदि तथा असौन्दर्य का शमन होता है। इसका अभ्यास स्त्रियों के लिए भी अत्यन्त लाभकारी और सौन्दर्य-वृद्धि का कारण हो सकता है।

योग मुद्रा

वज्रासन से बैठकर कटि के पीछे दोनों हाथ लेजाकर पीठ पर लगावे और बाँये हाथ से दाँये हाथ को पकड़ ले। फिर आगे की ओर झुक कर मस्तक को धरती पर टेके और प्राणवायु का रेचन करे। इस प्रकार १०-१५ सेकेण्ड, वायु-रहित स्थिति में रह कर पुनः धीरे-धीरे वायु को ग्रहण करे। इसे अभ्यास बढ़ाने के लिए अनेक बार करना चाहिए।

यह मुद्रा योगाभ्यासियों के लिए अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में तो सहायक है ही, उदर-रोगों को दूर करने में भी समर्थ है। यकृत, प्लीहा आदि के विकार, अर्श, स्नायविक दुर्बलता आदि का भी इसके द्वारा शमन होता है।

नभोमुद्रा

ऊर्ध्वजिह्वाः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा अर्थात् ऊर्ध्व जिह्वा करके स्थिर हो और कुम्भक के द्वारा वायु को रोक ले। इस प्रकार इस मुद्रा

का कार्य जीभ को तालु की ओर प्रेरित करना है। साथ ही दृष्टि को भोंहों के मध्य स्थिर करने का भी विधान है। क्योंकि दृष्टि के इस प्रकार रहने से ही इस मुद्रा के अभ्यास में दृढ़ता आती है।

यद्यपि इस क्रिया में, प्रारम्भ में कुछ कठिनाई प्रतीत होती है। फिर भी अभ्यास से सिद्धि होजाती है। ऊपर की ओर लौटा कर जिह्वा को उसके मूल में स्थिर करने में सफलता मिल जाय, तब समझना चाहिए कि मुद्रा सिद्ध होगई। इससे जिह्वा, कण्ठ और नेत्र के अनेकों रोग स्वतः नष्ट होजाते हैं। शरीर की अन्य ग्रन्थियों पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है। गल-ग्रन्थियों के दूषण से उत्पन्न होने वाले विकार एवं कण्ठ-स्वर के भंग होने तथा कण्ठमूल आदि में भी इससे अभूतपूर्व लाभ होता है, कुछ विद्वान् इसे खेचरी मुद्रा का ही एक रूप मानते हैं, परन्तु यथार्थ में यह अपना पृथक् रूप रखती है।

———

प्राणायाम से रोगों का शमन

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु की गति नियन्त्रित की जाती है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं—श्वास की वृद्धि होना। इसके अभ्यास से साधक श्वास के लम्बे या धीमे करने में अभ्यस्त हो जाता है। योगीजन इस क्रिया को शरीर में जीवनी शक्ति का संचार करने वाली मानते हैं, जिससे कि शारीरिक और मानसिक दुर्बलता और वृद्धावस्था का अवरोध होकर बल एवं पौरुष की वृद्धि होती है।

वायु पांच प्रकार के और उपवायु भी इतने ही हैं। इनका पूर्ण परिचय पहिले ही दे चुके हैं। प्राणवायु ऊर्ध्वभाग में और अपान वायु अधो-

भाग (मूलाधार) में रहता है, योगीजन अपान को ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि उसका प्राण के साथ मेलन होजाय। क्योंकि इसके द्वारा अपान वायु सुषुम्ना के मार्ग को खोल कर उसमें ऊपर की ओर चढ़ा कर प्राणवायु से मिलाया जा सकता है।

परन्तु उक्त क्रिया बहुत कठिन होने के कारण योगाभ्यासियों से भिन्न व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं रहती। इसलिये योगशास्त्रों में वर्णित सभी विधियों का पालन चिकित्सार्थ सम्भव नहीं है। उसमें तो सहज, सुगम और सुसाध्य विधियों की ही आवश्यकता होती है। इसलिए यहाँ उन्हीं का वर्णन किया जाता है।

प्राणायाम के अभ्यास से शरीर की सभी ग्रन्थियाँ सुपुष्ट होती हैं तथा प्राणवायु के नियमित होने से रक्तवाहिनी नाड़ियों में रक्त-संचार भी नियमित गति से होने लगता है। रक्त-शोधनार्थ भी यह क्रिया बहुत उपयोगी है, क्योंकि प्राणवायु का नियन्त्रित संचार उसके दोषों को दूर कर देता है।

फुफ्फुसों (फेंफड़ों) की कार्य क्षमता बढ़ाने और उन्हें सशक्त बनाने में भी प्राणायाम अत्यधिक सहायक होता है। बाहर से शुद्ध वायु का खींचना शरीर के लिए बहुत लाभदायक है, क्योंकि आधुनिक चिकित्सकों के अनुसार उससे अधिकाधिक शुद्ध आक्सीजन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राणवायु रूप आक्सीजन ही जीवन है और इसीलिए योगीजन इसका प्रयोग अधिक से अधिक करते हैं।

वायु में कार्बनादि का समावेश

अनेक वैज्ञानिकों के अनुसार वायु में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, फास्फोरस, पोटाशियम, मैगनेशियम, सोडियम, आयरन, आयोडिन, क्लोरिन, सल्फर एवं सिलिकम के सूक्ष्म परमाणु विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार वायु के ग्रहण द्वारा इन सभी उपयोगी खनिजों और

रसायनों की तन्मात्राओं को ग्रहण किया करते हैं, जिनके द्वारा शरीर का ठीक प्रकार से पोषण हुआ करता है।

कुछ वैज्ञानिक नलिका रहित अन्तः ग्रन्थियों के हारमोन को ही प्राण-वायु मानते हैं। कुछेक के अनुसार वायु में व्याप्त रासायनिक परमाणु ही प्राण हैं और कुछेक प्राण को अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अन्तर्स्राव से उत्पन्न शक्ति विशेष के रूप में स्वीकार करते हैं और कोई उसे ऑक्सीजन मानते हैं।

उक्त धारणाओं से यह प्रकट होता है कि प्राण के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक एक मत नहीं है, जबकि हमारे शास्त्रों का दृष्टिकोण अतीन्द्रिय अनुभूतियों पर आधारित है। उनके मत में मनुष्य शरीर भौतिक रासायनिक तत्वों का पुतला मात्र नहीं, वरन् मन-बुद्धि चेतना-युक्त पंचभूतों का संघात है। इस प्रकार वे उसे विश्व व्यापी चेतन शक्ति विशेष से सम्पन्न होना स्वीकार करते हैं और उनकी वह मान्यता परा-मनोवैज्ञानिक प्रयोगों (Experiment pertaining to para psychology) से प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। हमारे वेदों में भी प्राण को मूल चेतना कहा गया है—'प्राणो विराट् प्राणोदेस्ट्री प्राणं सर्व उपासते' (अथर्व) अर्थात् 'प्राण ही विराट् है, वही सबका प्रेरक है इसलिए (प्राणायाम के द्वारा) सभी उसकी उपासना करते हैं।

उपनिषदों की प्राण विषयक मान्यताएँ

उपनिषदों में भी इसी मान्यता का प्रतिपादन हुआ मिलता है—'प्राणो वै बलम्, प्राणो वै अमृतम्, आयुर्नः प्राणः' (वृहदारण्यक) अर्थात् 'प्राण ही बल, प्राण ही अमृत और प्राण ही आयु है।' तैत्तरीय उपनिषद् में भी कहा है--'प्राणानि जातानि जीवन्ति प्राणं प्रत्यात्यभि संविशन्तीति' अर्थात् 'प्राण से ही सब उत्पन्न होते, प्राण से जीवित रहते और अन्त में प्राण में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार प्राण और ऑक्सीजन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है तो भी प्राणवायु (ऑक्सीजन गैस) में प्राण की विद्यमानता स्वीकार करने पर उसकी क्रिया अपान में भी देखी जाती है। वायु मण्डल में सन्निहित वायु में प्राण का सहज समावेश रहता है और जब तक इस वायु में ताजगी रहती है, तब तक उसमें प्राण की भी अधिकता रहती है। 'यद्वै प्राणिति स प्राणः' के सिद्धान्तानुसार जो पोषण करे वही प्राण है।' चिकित्सकों के अनुसार यही रोगनिरोधक शक्ति या जीवनी शक्ति (vital force) है और यह शारीरिक तथा मानसिक, दोनों प्रकार के स्वास्थ्य का आधार होता है।

प्राण की द्विविधि गति

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के भेद से प्राण की गति दो प्रकार की मानी जाती है। बाह्य प्राण का प्राणमय शरीर के द्वारा आकर्षण अन्तमुखी गति मानी जाती है तथा उसका कर्मेन्द्रिय द्वारा बाहर चला जाना बहिर्मुखी गति होती है। इस प्रकार श्वासादि के द्वारा ग्रहण किये गये प्राण का सार भाग प्राणमय शरीर में संचित हुआ करता है और उसका शेष भाग निश्वासादि के द्वारा बाहर निकलता रहता है।

प्राणायाम का सिद्धान्त भी यही है कि पूरक के द्वारा बाहर से प्राणवायु का ग्रहण किया जाय, जिससे कि शरीरस्थ प्राण को बल और नवजीवन प्राप्त होता रहे तथा रेचक क्रिया के द्वारा शरीर के मलों के सम्पर्क से दूषित हुई वायु को बाहर निकाल दिया जाय। यह सिद्धान्त सर्व मान्य और सर्वथा वैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है।

प्राणायाम की तीन क्रियाएँ

प्राणायाम की जो तीन क्रियाएँ होती हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक उनमें वायु को बाहर निकालना रेचक, भीतर खींचना पूरक और भीतर

रोक रखना कुम्भक कहलाता है। एक नियम यह है कि रेचक क्रिया दांये नासाछिद्र से और पूरक बाँये नासाछिद्र द्वारा की जाती है। परन्तु नाड़ी-शोधनार्थ किये जाने वाले प्राणायाम में उससे विपरीत क्रम से भी करते हैं अर्थात् बाँयी नासा से रेचक और दाँयी से पूरक किया जाता है। इस प्रकार दोनों क्रमों के अभ्यास से वायु-शोधन के साथ नाड़ी-शोधन भी ठीक प्रकार से हो सकता है।

धीमी श्वास क्रिया का कारण होता है मनुष्य का रोगी अथवा निर्बल होना। पाचकाग्नि, जिसे योगशास्त्रियों ने सूर्य कहा है, प्राणवायु रूप आक्सीजन को जला कर कार्बन को उत्पन्न कर देता है। क्योंकि धीमी श्वास क्रिया से प्राणवायु निर्बल और अनियमित रहता है। इस कारण उस हानिकारक कार्बन को शरीर से बाहर निकालने के लिए दीर्घ श्वास आवश्यक होते हैं, जो कि प्राणायाम के अभ्यास से ही संभव है।

यदि शरीर में बनता हुआ कार्बन बाहर नहीं निकलता तो वह शरीर की सभी ग्रन्थियों को निर्बल एवं विकारग्रस्त बनाने लगता है और उस अवस्था में अनेक रोगों का आक्रमण सम्भव होता है। विविध प्रकार के स्नायविक रोग, चर्मरोग, उदर रोग, यहाँ तक कि फुफ्फुसी को प्रभावित करने वाला यक्ष्मा रोग तक हो सकता है। इन सब, एवं अन्यान्य विकारों से बचने के लिए ही योगीजन प्राणायाम का अभ्यास किया करते थे।

विष-नाश में प्राणायाम की उपयोगिता

प्राणायाम के प्रभाव से विषैले जीव-जन्तुओं का विष, प्रतिकूल औषधियों का विष और विकृत प्रभावों से उत्पन्न विष का भी शमन होजाता है। इसलिए विषों से छुटकारा प्राप्त करने तथा विभिन्न रोगों

से स्थायी रूप से बचने के लिए प्राणायाम की क्रिया बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

ध्यान रहे कि किसी प्रकार की यौगिक क्रिया प्राणायाम के बिना व्यर्थ सिद्ध होती है। कोई भी आसन, बन्ध या मुद्रा प्राणायाम के साथ ही अपना अनुकूल प्रभाव प्रदर्शित करती है। इसलिए चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह रोगी का बलाबल देखकर उसके उपयुक्त प्राणायाम का निर्देश करे।

प्राणायाम का अभ्यास मल-शोधन के लिए बहुत उपयोगी है। जब तक शरीर में मल भरा रहता है, तब तक उसका पूर्ण स्वस्थ रहना सम्भव नहीं है। पद्मासन या अन्य कोई अनुकूल आसन लगा कर बैठे और प्राणायाम का अभ्यास करे तो अवश्य ही सफलता मिल सकती है।

मल-शोधन प्राणायाम

इसमें कुम्भक अर्थात् वायु रोक रखना आवश्यक नहीं। शरीरस्थ दूषित वायु को रेचक क्रिया द्वारा बाहर निकाल कर पूरक द्वारा बाहर से वायु खींचे और धीरे-धीरे पुनः बाहर निकाल दे। श्वास धीरे-धीरे परन्तु लम्बे खींचने चाहिए। जितना समय पूरक में लगे उससे दुगुना समय रेचक में लगावे।

मल-शोधन के अभिप्राय से किया जाने वाला प्राणायाम दोनों नाड़ियों के समान क्रम और व्युत्क्रम से किया जाना चाहिए। एक बार बाँये नासापुट से वायु खींचे और दाँये से बाहर निकाले तो दूसरी बार दाँये से खींच कर बाहर निकाल दे। बार-बार ऐसा करने से तीन मास में मल-शोधन होजाता है।

अभ्यास की दृढ़ता होने पर कुम्भक का अभ्यास किया जाना हित-कर रहता है। पूरक द्वारा वायु खींचकर जितनी देर तक सहज रूप से

रोक सके उतनी ही देर रोके और फिर पूरक के द्वारा बाहर निकाल दे। कुम्भक द्वारा वायु रोकने के अभ्यास से सभी नाड़ियाँ वायु से भर जाती हैं जिससे उनके अवरुद्ध मार्ग खुल जाते हैं और तब दशों वायु अपनी नियमित गति से चलने लगते हैं, जो कि स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसका अभ्यास प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालों में, जब तक मन चाहे, तब तक करना चाहिए।

प्राणायाम की सरल प्रक्रिया

प्राण के दो भेद माने गए हैं—स्थूल और सूक्ष्म। प्राणायाम के द्वारा इन दोनों प्रकार के प्राणों को नियन्त्रित किया जा सकता है। सामान्यतः प्राणायाम को प्राणों का व्यायाम मानते हैं। इसके शाब्दिक अर्थ हैं—प्राण से प्राणवायु या श्वास और आयाम से वृद्धि, इस प्रकार श्वास की वृद्धि का प्रयत्न ही प्राणायाम है।

इसका सरल उपाय यह है कि प्रथम रेचक क्रिया के द्वारा शरीरस्थ वायु को प्रश्वास के द्वारा जहाँ तक बाहर ले जाकें, ले जाँय और फिर श्वास को बिना रुके, पूरक के द्वारा धीरे-धीरे खींच कर भीतर ग्रहण करें। इस प्रकार कुम्भक के बिना रेचक, पूरक का अभ्यास करते-करते उसमें सूक्ष्मता आती जाती और श्वास-प्रश्वास की गतियों का अभाव होजाता है।

यदि उपर्युक्त क्रिया को पद्मासन, वज्रासन आदि किसी सरल और अनुकूल आसन के साथ मूलबन्ध या उड्डीयान बन्ध के साथ करें तो स्वास्थ्य की वृद्धि में अत्यन्त सहायता मिलती है, क्योंकि इससे प्राणायाम क्रिया में वायु को ऊपर ले जाना सुगम होता है, जो कि योग-सिद्धि ही नहीं, स्वास्थ्य वृद्धि में भी अत्यन्त सहायक है।

सभी मनुष्य रात-दिन उल्टे-सीधे श्वास-प्रश्वास लेते और छोड़ते रहते हैं—कभी मुख से, कभी नासिका से, कभी हाँफते हुए तो कभी

अन्य बेढँगे ढँग से, जो कि स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होते हैं। परन्तु प्राणायाम श्वास-प्रश्वास की इस अनियमित क्रिया को व्यवस्थित करने का एक श्रेष्ठ उपाय है।

हृदय एवं फुफ्फुस (फेंफड़े) आदि श्वास-प्रश्वास की अनियमितता से दूषित होजाते हैं और रोगों की उत्पत्ति का कारण भी यही है। मुख से श्वास लेना, छोड़ना आदि शरीर के लिए अहितकर है, क्योंकि मुख का कार्य खाना, पीना और बोलना है। श्वास-प्रश्वास का कार्य नासिका का है, इसलिए उसे मुख के द्वारा नहीं करना चाहिए।

यदि इन नियमों का ध्यान में रखा जाय तो शरीर को रोगी होने से बचाया जा सकता है। ऊपर प्राणायाम की जो सरल विधि बताई गई है, उसका अभ्यास करते रहने से सफलता प्राप्त होती है। इससे अनेक प्रकार के ऐसे रोग, जिनके दीर्घ उपचार की आवश्यकता नहीं होती, सहज ही नष्ट होजाते हैं। नासिका सम्बन्धी रोग, कण्ठ और मुख के दूषण से उत्पन्न विकार आदि में यह अत्यन्त हितकर है।

तालमय प्राणायाम का रोगों पर प्रभाव

रोगों के निवारण में इस प्राणायाम का अद्भुत प्रभाव प्रकट होता है। क्योंकि तालमय श्वास-प्रश्वास विलक्षण शक्ति से सम्पन्न होता है। अनेकों संगीतशास्त्री इसका दावा करते हैं कि संगीत की तालमय ध्वनियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के रोगों का निवारण किया जा सकता है। हम देखते हैं कि हमारे हृदय की धड़कनों में भी ताल का समावेश रहता है, श्वास-प्रश्वास की गति में एक रूपता का होना ही उनका तालमय होना है और यह कार्य प्राणायाम के अभ्यास से सहज ही होजाता है।

इस प्रकार के अभ्यास में पूरक द्वारा श्वास खींचने और रेचक द्वारा श्वास छोड़ने में नाड़ी की धड़कन समान होनी चाहिए। श्वास भर

कर भीतर रोकने में अभ्यस्त होगए हों तो उसकी धड़कनों में भी समानता होनी चाहिए। कुम्भक दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य में रेचक द्वारा प्रश्वास छोड़ कर उसे बाहर रोकते हैं और आन्तरिक में पूरक द्वारा श्वास खींच कर भीतर रोकते हैं। इस प्रकार के दोनों कुम्भकों का समय रेचक और पूरक के समय से आधा रखना चाहिए। सामान्य रूप से दिन में अनेक बार एक सप्ताह पर्यन्त नाड़ी की धड़कनों की गणना का अनुभव करने से एक प्रकार की ताल-सी बँधने लगती है। ऐसा होने पर तालमय प्राणायाम का प्रारम्भ किया जा सकता है।

इस प्रकार के प्राणायाम में नाड़ी की धड़कनों को छः बार गिनते हुए श्वास को धीरे-धीरे भीतर खींच कर उसे तीन धड़कनों तक भीतर रोके रखिये और फिर छः धड़कनों तक गिनते हुए बाहर निकाल दीजिये तथा तीन धड़कनों तक श्वास को बाहर ही रोके रखिये अर्थात् श्वास न लीजिए।

इसका अभ्यास प्रारम्भ में एक मिनट तक ही करिये और धीरे-धीरे दृढ़ता आने पर सोलह धड़कनों तक बढ़ा लीजिये। यह ध्यान रहे कि थकान या घबराहट का अनुभव होने लगे तब अभ्यास को रोक देना चाहिए। इस प्रकार ताल का अनुभव होने पर समझ लेना चाहिए कि श्वासोच्छ्वास क्रिया में विद्युन्मयी होगई है, जिससे कि शरीर के अनेक रोगों को स्वतः ही शमन हो जाता है।

यह क्रिया हृदय और फेंफड़ों का बल प्रदान करने में अत्यन्त उपयोगी है। शरीरस्थ दशों वायु नियमित और नियंत्रित होकर रक्त-संचार क्रिया को गतिबद्ध करने में सहायक होते हैं। यह प्राणायाम जीवनी शक्ति भरने में अत्यन्त महत्व-पूर्ण और हितकर है।

दीर्घ श्वास-प्रश्वास के अद्भुत लाभ

बांये नासाछिद्र के द्वारा धीरे-धीरे भरपूर श्वास खींचना चाहिए।

उस श्वास को बिना रोके धीरे-धीरे दाँये नासाछिद्र द्वारा निकाल दें। श्वास खींचने के समय से दुगुना समय उसे निकालने में लगावें।

अथवा नासिका द्वारा दीर्घ श्वास खींचें और मुख की झिरी के द्वारा शनैः शनैः निकाल दें। यानी मुख को अधिक न खोलें। यह क्रिया बार-बार दुहराते हुए एक-दो मिनट तक करनी चाहिए।

इससे फेंफड़ों के दोष दूर होकर क्षय के कीटाणु तक नष्ट होजाते हैं। यकृत एवं उदर के अनेक विकारों को दूर करने में भी हितकर है। रक्त का शोधन होकर सब प्रकार के चर्म रोगों का भी शमन होता है।

व्यायाम से प्राणायाम की श्रेष्ठता

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए व्यायाम की अधिक उपयोगिता मानी जाती है। नैत्यिक कार्यों में चलना-फिरना, दौड़ना-भागना, उठना-बैठना, उछलना-कूदना आदि क्रियाएं सहज रूप से हो जाती हैं। यदि इन क्रियाओं को कुछ समय तक कलात्मक ढंग से किया जाय तो वह व्यायाम कहलाता है। उसमें दण्ड-बैठक आदि की प्रमुखता दी जाती है। जो लोग उसमें असमर्थ होते हैं, वे टहलने का व्यायाम करते हैं।

योग-क्रियाओं में आसनों को भी व्यायाम कहा जा सकता है, परन्तु अधिक निर्बल, पीड़ित या ऐसे रोगों के रोगी, जो दण्ड, बैठक, आसनादि नहीं कर सकते, उनके लिए प्राणायाम-क्रिया बहुत सरल रहती है, क्योंकि इसे हृदय-दौर्बल्य वाले, क्षयग्रस्त, मृगी, हर्निया आदि के रोगी भी आसानी से कर सकते हैं।

अनेक विद्वान् प्राणायाम को श्वास-प्रश्वास का व्यायाम ही मानते हैं। इसमें कुछ समय तक कलात्मक ढंग से श्वसन क्रिया की जाती है। जिनके लिए चिकित्सकगण व्यायाम का निषेध करते हों, वे व्यक्ति भी श्वसन-क्रिया के नियमित व्यायामों से लाभ उठा सकते हैं। इस कारण प्राणायाम को व्यायाम से श्रेष्ठ मानना अनुचित नहीं है।

सरल कोर्स में उपयोगी श्वास क्रियाएँ

रोगानुसार चिकित्सा-कोर्स का विभाजन करते हुए प्रारम्भ में सरल कोर्स की चर्चा की जा चुकी है। इससे प्राणायाम की प्रारम्भिक सरल विधियों से कार्य लिया जा सकता है। नीचे ऐसी ही विधियों का वर्णन किया जाता है, जो कि करने में बहुत सरल और स्वास्थ्य-रक्षा एवं रोग-निवारण में अधिक उपयोगी हैं।

इन सभी विधियों में दीर्घ (लम्बी) श्वास लेना आवश्यक होता है। अधूरी श्वास-क्रिया रुके हुए फुफ्फुस-कोशों को नहीं खोल पाती, इससे वे कोश निष्क्रिय होजाते हैं, जिसके परिणाम पक्षाघात जैसे अनेक वात रोगों और यक्ष्मा आदि की उत्पत्ति के रूप में स्पष्ट होता है। परन्तु इन प्रयोगों से वे कोश शुद्ध और सक्रिय होजाते हैं। यदि नियमित रूप से अधिक दिनों तक किये जाँय तो रोगों के आक्रमण का भय ही नहीं रहता विधियाँ इस प्रकार हैं—

(१) सावधान (Attention) की स्थिति में सीधे खड़े होजाँय और फिर दोनों पाँवों को परस्पर दो फिट की दूरी पर रखें। गर्दन सीधी, ठोड़ी कुछ भीतर की ओर झुकी हुई और वक्षस्थल को आगे की ओर तना हुआ रखें। हाथों को नीचे की ओर तान कर दोनों जाँघों से सटा लें। इस प्रकार पूरे शरीर का भार दोनों पाँवों पर समान रूप से रहना चाहिए।

इस स्थिति में खड़े होकर धीरे-धीरे गहरी श्वास भरें और उसे तब तक भीतर रोके रहें, जब तक किसीप्रकारकी असुविधा या घबराहट प्रतीत न हो। तत्पश्चात् रुके हुए वायु को मुख के द्वारा निकाल दें। यह क्रिया नित्य प्रति १०-१५ बार दुहरानी चाहिए। इससे हृदय को बल मिलता है, फेंफड़े मजबूत होते हैं, टाँगों की निर्बलता दूर होकर शरीर पुष्ट होने लगता है।

(२) उक्त प्रकार से पाँवों को लगभग दो फिट के अन्तर से रखकर सीने को तान लें और दोनों हाथों को सामने की ओर समानान्तर रखें। पूरक द्वारा धीरे-धीरे गहरी श्वास लेकर भीतर भरें और रोक लें अर्थात् कुम्भक करें। कुम्भक की अवस्था में ही हाथों की मुट्ठी बाँध लें और भुजदण्ड की माँस पेशियों पर बल डालते हुए बँधी हुई मुट्ठियों को ऊपर लेजाकर कन्धों से स्पर्श करावें। यह क्रिया कुम्भक के समय में जितनी बार सरलता से कर सकते हों उतनी बार करें और फिर धीरे-धीरे श्वास को मुख के द्वारा बाहर निकाल दें।

बंधी हुई मुट्ठियों को कन्धों पर लेजाते समय इतना अधिक जोर लगाना चाहिए, जिससे की कँपकँपी का अनुभव होने लगे। परन्तु प्रारम्भ में हल्के जोर से ही काम लेना चाहिए। कँपकँपी वाली स्थिति पर धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए पहुँचा जा सकता है। इस क्रिया से शरीर के सभी अंग पुष्ट होते हैं तथा हृदय और फुफ्फुसों को बल मिलता है। निर्बल माँस पेशियों को सबल बनाने में यह क्रिया अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

(३) पूर्ववत् सावधान मुद्रा में पाँवों को उतनी ही दूरी पर रखते हुए सीना तान कर खड़े हों और हाथों को आगे की ओर आमने-सामने इस प्रकार रखें कि वे सीने की चौड़ाई के बराबर की दूरी पर सामानान्तर रहें। अब गहरी और लम्बी श्वास लें तथा हाथों को पीठ की ओर ले जाकर ताने रखें अथवा आगे पीछे करते रहें और फिर मुँह के द्वारा सीत्कार (सीटी जैसी आवाज) करते हुए वेग पूर्वक बाहर निकाल दें। यह क्रिया ८-१०बार करनी चाहिए।

यह क्रिया वक्षस्थल को चौड़ा करने में सहायक है। इसके अभ्यास एन्जाइना पेक्टोरिस जैसे हृदय रोग भी नहीं हो पाते। हाथ-पांवों को सुदृढ़ बनाने वाला यह व्यायाम शरीर को सुदृढ़ करने में अत्यन्त उपयोगी है।

(४) उपर्युक्त सावधान की स्थिति में वक्षस्थल को तानकर खड़े हों। गर्दन सीधी, ठोड़ी कुछ झुकी हुई और दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर रहे। दोनों हाथ नीचे की ओर सीधे लटकते हुए जाँघों से सटे रहें। इस स्थिति में होकर धीरे-धीरे श्वास सींचने के साथ ही पाँवों को ऊपर की ओर तानते हुए अंगुलियों के बल खड़े होने का अभ्यास करें। इसमें एड़ी धरती से अधर हो जाती और अँगुलियाँ धरती पर टिकी रहती हैं। फिर धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए एड़ियों को धरती पर टिका लीजिए। यह क्रिया १०-१२ बार आसानी से की जा सकती है।

इसके अभ्यास से टाँगों की अशक्तता दूर होती है, घुटनों या टखनों का दर्द मिट जाता है। ठोढ़ी झुकी होने से कण्ठ में संकोच और खिचाब होता है, उसके परिणाम स्वरूप स्वर-नलिका का शोधन होता और कण्ठ-विकार दूर हो जाते हैं।

(५) खड़े होने की पूर्ववत् स्थिति में होकर हाथों को कोखों में रखें। वह इस प्रकार रहें कि बाँए हाथ की अँगुलियाँ आमाशय के निकट रहें और बाँये हाथ की अँगुलियाँ यकृत के समीप। अब गहरी श्वास लीजिए और कोखों को अँगुलियों से बार-बार दबाते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़िये और उसे अधिक से अधिक बाहर निकालने का प्रयत्न कीजिये।

उक्त क्रिया के पश्चात् एक-दो मिनट इधर से उधर टहलना भी उपयोगी रहता है। इस बीच भी गहरी सांस लें और वायु को सीटी बजाने की मुख मुद्रा से धीरे-धीरे बाहर निकाले। इससे शरीर की थकान मिट जाती है, जीभ और कण्ठ में उत्पन्न हुए छालों का शमन होता है। सर्वांग में दृढ़ता और आमाशय को बल मिलता है।

(६) सावधान की स्थिति, गर्दन सीधी, ठोड़ी झुकी हुई, सीना तना हुआ तथा हाथ दोनों पार्श्वों से सटे हुए रखें फिर धीरे-धीरे श्वास खींचते हुए सभी पसलियों को ऊपर से नीचे की ओर एक-एक करके

थपथपावें। जब श्वास भर जाय तव उसे रोककर सीने को दाँये हाथ की हथेली से तव तक मलें, जब तक कि श्वास को आसानी से रोका जा सके। तत्पश्चात् उसे धीरे-धीरे छोड़ दें। यह क्रिया ८ १० बार करें।

यह सम्पूर्ण फुफ्फुस-कोशों का अवरोध करने वाली उपयोगी क्रिया है। इससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ती और उन्हें बल मिलता है, जिससे सर्वांग पुष्ट होजाते हैं। श्वास, कास, प्रतिश्याय, हृद्दौर्बल्य आदि में भी यह बहुत उपयोगी है।

(७) सावधान की स्थिति में ही पूर्ववत् खड़े होकर धीरे-धीरे श्वास खींचे और हाथों को दृढ़ता पूर्वक कड़े करके शिर के ऊपर तक ले जाकर हाथ जोड़ने की मुद्रा में मिला कर जोर लगावें और फिर धीरे-धीरे श्वास को निकाल दें। यह क्रिया १०-१२ बार करनी चाहिए। क्रिया के पश्चात् एक-दो मिनट टहल लेना भी हितकर रहता है।

इस क्रिया में हाथों के परस्पर मिलाने से जो जोर लगाना होता है, उससे शिराओं में रुका हुआ मल पसीने के द्वारा निकल जाता और उनका शोधन होजाता है। यदि इस क्रिया में कुम्भक अवस्था के साथ एड़ियाँ उचका कर अँगुलियों के बल खड़े होने का अभ्यास किया जाय तो अनेक उदर विकार मिट जाते हैं। नाड़ी संस्थान की दृढ़ता और क्रियाशीलता बढ़ाने में भी इसका उपयोग है। शरीर की थकान एवं आलस्य मिटकर स्फूर्ति और उत्साह उत्पन्न होता तथा चित्त में शान्ति और प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है।

(८) पूर्ववत् स्थिति में खड़े होकर सीना तान लें। हाथों को आगे रख और धीरे-धीरे गहरी श्वास खीचें। जब तक श्वास भीतर रोक सकें तब तक दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर उन्हें चक्र के

समान घुमावें। इस प्रकार ऊपर से नीचे की ओर घुमाते हुए श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें।

फिर पुनः श्वास खींचे और मुट्ठी बांध कर हाथों को नीचे से ऊपर की ओर घुमावें। इस प्रकार व्युत्क्रम से क्रमशः हाथों को घुमाने की क्रिया उसी स्थिति में करें जबकि श्वास को भीतर रोक रखा हो। परन्तु श्वास के रोकने में किसी प्रकार की असुविधा प्रतीत होने पर उसे छोड़ दें और हाथों का घुमाना भी बन्द कर दें।

इसके अभ्यास से हाथों का ही व्यायाम नहीं होता, वरन् उदर, आँत, हृदय और फुफ्फुसादि का व्यायाम भी होजाता है। जिसके फल स्वरूप हाथ-पाँवों में दृढ़ता आती है, उदर-विकारों का शमन होता है तथा हृदय और फेंफड़े मजबूत होजाते हैं। यह श्वसन व्यायाम सर्वांग को पुष्ट करने में अत्यन्त हितकर है।

संक्षिप्त कोर्स में व्यवहार्य प्राणायाम-क्रियाएँ

यद्यपि सभी प्रकार की श्वसन क्रिया (प्राणायाम) सभी प्रकार के रोगों में हितकर और चिकित्सा कोर्सों में उपयोगी हैं, तथापि जिसकी जहाँ अधिक उपयोगिता हो, उसका वहां प्रयोग किया जाय तो लाभ भी शीघ्र दिखाई देनें लगता है। वहां संक्षिप्त कोर्स में पद्मासनादि लगाकर प्राणायाम करने की कुछ उपयोगी विधियां बताई जाती हैं—

(१) पद्मासन लगा कर बैठिये, रीढ़ की अस्थि और सीने को तान लीजिए। हाथों को समान रूप से पाँवों के घुटनों पर रख कर गर्दन सीधी रखिये। अब बाँए नासापुट के द्वारा रुक रुक कर गहरी श्वास लीजिए। यह प्रयत्न करिये कि थोड़ी थोड़ी श्वास खींचकर अधिक से अधिक भरी ज़ा सके, जिससे फेंफड़े भर जाँय और वायु के कारण कुछ-कुछ उदर भी भरा हुआ प्रतीत हो। फिर जब तक असुविधा प्रतीत न हो तब वायु को रोके और तत्पश्चात् दाँये नासापुट से धीरे-धीरे निकाल दे।

इस क्रिया को ८-१० बार करें इसमें गहरी श्वास लेकर मुख को सीटी बजाने की मुद्रा में करके धीरे-धीरे बाहर निकालनी चाहिए। इससे सभी कण्ठ-रोगों का शमन होता है तथा हृदय की दुर्बलता नष्ट होती और फेंफड़ों के दुष्ट कीटाणु मिट जाते हैं।

(२) पीठ के बल धरती पर लेट कर पाँवों को परस्पर सटा लें और हाथों को भी इस प्रकार रखें कि वे सीधे समान रहते हुए कटि और जांघों से मिले रहें। फिर नेत्र बन्द करके शरीर को ढीला छोड़िये और चित्त को एकाग्र कर धीरे-धीरे श्वास खींचिये, जब अधिक श्वास खींचने में असुविधा का अनुभव हो तब धीरे-धीरे ही श्वास को बाहर निकालिये। यह ध्यान रखिये कि श्वास लेने और छोड़ने का आकार और समय समान हो, जिससे कि उसमें तालबद्धता और दीर्घता आ सके। यह प्रयोग २-३ मिनट तो आसानी से किया जा सकता है।

इसके अभ्यास से हर प्रकार की थकान दूर होकर चित्त शान्त होता है। स्नायविक दुर्बलता को मिटाने में यह अत्यन्त हितकर है। इससे शारीरिक और मानसिक बल बुद्धि एवं सर्वांग पुष्टि होती है। हृदय के लिए भी बलप्रद है।

(३) पेट के बल लेट कर पाँवों को इस प्रकार रखें कि तलुए ऊपर की ओर रहें। हाथ भी सीधे, समान रूप से दोनों बगलों और जाँघों से सटे रहें। किन्तु हथेलियों का पृष्ठ भाग धरती को स्पर्श करता रहे। शिर को पीछे की ओर इस प्रकार झुकावें कि ठोड़ी, मुख और नासिका भी धरती से मिल जाँय। तत्पश्चात् धीरे-धीरे श्वास खींचें और कमर सहित टाँगों को धरती से अधर उठाते हुए अधोभाग को इस प्रकार ऊंचा करें कि वक्षस्थल और हाथ धरती पर सटे रहें। श्वास को रोके हुए जितनी देर तक ऐसा कर सकें, उतनी देर तक ही करें और फिर श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें और अधोभाग को धरती पर यथावत करलें। इसे तीन से सात बार तक कर सकते हैं।

इसके अभ्यास से बस्ति प्रदेश की पेशियों में दृढ़ता आती और कटि-प्रदेश में होने वाले सभी विकार दूर होते हैं। उदर शूल, अपच आदि अनेक रोगों का शमन होता तथा यकृत, प्लीहादि की व्याधियों का भी शमन होजाता है।

(४) पेट के बल लेट कर शरीर को सीधा रखें, जिससे कि शिर, रीढ़ और पाँव सीध में रहें। एड़ियों को सटी हुई रख कर हाथों को धरती पर इस प्रकार टिकावें वे कुहनियों से मुड़ कर हथेलियों पर शरीर का भार ले सकें। तत्पश्चात् श्वास को धीरे-धीरे भर कर हथेलियों के बल टेकिये और शिर तथा वक्षस्थल को धरती से अधर कर लीजिए। इस प्रकार सुविधानुसार १ -२० सैकिण्ड तक श्वास को रोके हुए इस स्थिति में रह कर धीरे-धीरे प्रश्वास छोड़ दीजिए और पूर्व स्थिति में होजाइये। यह अभ्यास तीन से सात बार तक कर सकते हैं।

इसके द्वारा रीढ़ की हड्डी में लचक आती और आमाशय की माँसपेशियाँ विकसित होने लगती हैं। रक्त का अनियमित संचार नियमित होता है, जिससे चर्म विकारों का शमन होजाता है। पुरुषों के वीर्य-विकार, निर्बलता, स्वप्न दोषादि में भी हितकर है। यदि स्त्रियाँ इसका अभ्यास करें तो मासिक सम्बन्धी विकार मिटते और प्रजनन-अंग दृढ़ होते हैं।

(५) पीठ के बल लेट कर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर मिलावें और नाभि पर रख लें। शरीर को पीधा रखते हुए ढीला छोड़ दें और पाँवों को इस प्रकार मिलावें कि उनकी एड़ियाँ भी परस्पर मिली रहें। फिर बाँये नासापुट से धीरे-धीरे इतना श्वास खींचे कि उसके नाभि प्रदेश तक पहुँचने का अनुभवहोने लगे।। यह क्रिया १ से५ मिनट तक की जा सकती है और वायु-पूरण के कार्य में कुछ अभ्यास आवश्यक होता है।

इससे शरीर के सभी अवयव और माँसपेशियाँ दृढ़ होती हैं। अल्प-बल और रक्त की अल्पता दूर होकर नवीन रक्त का संचार होता है। हानि पहुँचाने वाले कीटाणुओं के विनाश में भी यह बहुत उपयोगी क्रिया है।

(६) पेट के बल लेट कर शरीर को सीधा, समान रखें। पाँवों को सीधे रख कर एड़ियों को परस्पर मिलाये रहें। दोनों हाथों को दोनों पार्श्वों में सीधे रखें। फिर धीरे-धीरे श्वास खींच कर हाथों को पीठ पर लेजांय और उन्हें आगे-पीछे की ओर तब तक चलावें, जब तक कि आसानी से श्वास रोकी जा सके। फिर श्वास को धीरे-धीरे निकाल दें। यह क्रिया १५ सैकिण्ड से १ मिनट तक की जा सकती है।

यह क्रिया हाथ-पाँवों में दृढ़ता लाती है, हृदय और फुपुफुस को सबल बनाती है। सभी वात रोगों का शमन होकर कफ विकारों का भी नाश होता है।

(७) पीठ के बल सीधे लेट कर दोनों हाथ-पाँवों को भी समान अवस्था में रखें तथा श्वास को धीरे-धीरे खींचते हुए एक पाँव को ऊपर की ओर सीधा उठावें और जब श्वास रोकने में असुविधा प्रतीत हो तब श्वास छोड़ दें और पाँव को पूर्ववत् धरती पर रख लें।

यह क्रिया क्रमशः दाँये-बाँये दोनों पाँवों से उलट-पलट कर एक मिनट तक करनी चाहिए। इसके पश्चात् शान्ति पूर्वक आराम से लेट जाना चाहिए। इसके अभ्यास से शारीरिक और मानसिक थकान मिटती, पाँवों की निर्बलता दूर होती तथा उदर विकारों में लाभ होता है। आमवात में होने वाला घुटनों-टखनों का दर्द भी इससे मिट जाता है।

(८) शवासन से लेट कर चित्त को एकाग्र करें और दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर कर लें। फिर धीरे-धीरे श्वास को खींचें और दुगुने समय तक रोक कर धीरे-धीरे ही छोड़ दें। यह अभ्यास

आरम्भ कुछ सैंकिण्ड करें और शनैःशनैः बढ़ाते जाँय। इससे कंठ का शोधन होता और हृदय को बल मिलता है। परिश्रम से उत्पन्न हुई थकान इससे दूर होती है। कफ-विकारों को दूर करने में भी सहायक है।

उक्त प्रकार का प्राणायाम शवासन के साथ ही नहीं, संक्षिप्त कोर्स में व्यवहृत विभिन्न आसनों के साथ भी सरलता से किया जा सकता है। इसके द्वारा नाड़ियों का शोधन होकर चित्त को शान्ति प्राप्त होती है।

सब रोगों में लाभकारी भ्रमण प्राणायाम

अब एक ऐसे शाणायाम पर प्रकाश डाला जाता है, जो कि बहुत सरल और चाहे जिस स्थिति में किया जा सकता है। रोगी कितना ही अशान्त, बेचैन या अशक्त क्यों न हो यदि उसमें दस-पाँच कदम भी चल लेने की क्षमता है तो आसानी से कर सकता है विधि इस प्रकार है—

सीधे खड़े होजाँय, बाँयी नासिका से श्वास खीचें और १५-२० सैंकिण्ड उसे भीतर रोक कर दाँयी नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। फिर १ मिनट ठहर कर इसको उल्टे क्रम से करें अर्थात् दाँयी नासिका से वायु खींच कर रोकें और बाँयी से निकालें। इसका अभ्यास रोगी के निर्बल होने की अवस्था में ४-५ बार तक करना चाहिए। इससे शरीर दौर्बल्य, रक्त की कमी आदि में लाभ होता है।

यदि पाँवों में अशक्ता हो तो उन्हें मजबूत करने के उद्देश्य से भी इस प्राणायाम का उपयोग हितकर रहेगा। इस अवस्था में इसका अभ्यास चलते-फिरते में किया जा सकता है। अर्थात् घूमते हुए इस प्राणायाम की क्रियाओं को तब तक दुहराते रहें, जब तक कि आसानी से दुहरा सकें और किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो।

हाथों या अन्य अंगों की निर्बलता वाले रोग में भ्रमण प्राणायाम के साथ उन-उन अंगों को हिलाने-डुलाने की क्रिया करनी चाहिए। इस

प्रकार अंग-संचालन से उन-उन अंगों में रक्त का संचालन सुचारु रूप से होने लगता और बल की वृद्धि होती है।

उक्त प्राणायाम को चलते, फिरते, खड़े होते, बैठते, लेटते आदि सभी अवस्थाओं में कर सकते हैं और वह प्रत्येक अवस्था में ही सर्वांग को सशक्त करने वाला और स्फूर्ति दायक सिद्ध होता है।

पूर्ण कोर्स में उपयोगी श्वास क्रियाएँ

कठिन साध्य (दुःसाध्य) रोगों के निवारणार्थ रोगी को पूर्ण कोर्स या दीर्घ कोर्स लेना होता है, जो कि सभी चिकित्सा पद्धतियों में आवश्यक है। क्योंकि कुछ दिनों के अधूरे प्रयोग रोग को निःशेष नहीं कर पाते, जिसके फलस्वरूप रोगी धीरे-धीरे जीर्ण होता चला जाता है। यदि कोर्स की विधियों का प्रयोग बुद्धिमानी से किया जाय तो दुःसाध्य ही नहीं, असाध्य रोग भी दूर हो सकते हैं। कुछ प्रभावकारी योग यहां दिये जाते हैं—

(१) श्वास का निकालना और खींचना रोककर स्थिर चित्त से बैठ जाँय। प्राण-प्रवाह जैसे जहाँ चल रहा हो, उसे वैसे ही वहाँ रोक कर बैठने का अभ्यास करें। योगशास्त्रों में इसे केवली (केवल] कुम्भक की संज्ञा दी है। इसमें प्राण की गति का निरोध किया जाना ही रोगनाशन और आयुवर्द्धन में सहायक होता है।

कुम्भक दो प्रकार का माना जाता है—सहित और केवल। जो रेचक पूरक क्रियाओं के सहित हो उसे सहित कुम्भक कहते हैं और केवल कुम्भक वह है, जिसमें रेचक और पूरक न किया जाय। वह कुम्भक अभ्यास से सिद्ध होता है। जब तक सरलता से किया जा सके तभी तक करना चाहिए।

इससे हृद्दौर्बल्य में आशातीत लाभ होता है, फेंफड़े भी मजबूत होजाते हैं। उदर-विकारों का शमन और सर्वांग में नवशक्ति उत्पन्न

होती है। इसलिए इसे सभी साध्यासाध्य रोगों को दूर करने और आयु बढ़ाने वाला प्राणायाम मानते हैं। इसे किसी भी आसन से बैठकर किया जा सकता है।

(२) दाँये नासापुट को दायें अँगूठे से बन्द करके बाँये नासापुट द्वारा धीरे-धीरे श्वास को खींचें। इसमें जितना समय लगे उससे चौगुने समय तक कुम्भक करें और फिर कुम्भक से आधे समय में श्वास को शनैः शनैः निकाल दें। फिर इस अभ्यास को व्युत्क्रम से करें अर्थात् बाँये नासापुट को बन्द करके दाँये से श्वास खींचे और बाँये से निकालें। इस प्रकार क्रमपूर्वक लौट फिर कर व्यूत्क्रम से प्राणायाम किया जाना चाहिए। इसमें समय का निर्धारण किसी मन्त्र को जपते हुए या घड़ी देखते हुए किया जा सकता है। इसके अभ्यास में समय लगता है, इसलिए निराश नहीं होना चाहिए। योगशास्त्रों में इसे सहित कुम्भक के नाम से कहा है।

इसके अभ्यास से शरीर में नवजीवन का संचार होता है। सभी अंगों की दुर्बलता दूर होकर दृढ़ता आती है और रक्त की गति नियमित हो जाती है। कण्ठ नलिका का शोधन होकर ग्रन्थियाँ पुष्ट होजाती हैं। हृदय और फेंफड़े मजबूत होते और उदर रोगों का शमन होता है। वात-रोगों और चर्मरोगों में भी इसका उपयोग हितकर है।

(३) कौए की चोंच जैसी मुख मुद्रा (काकी मुद्रा) बना ले। इसमें दोंनों ओष्ठ इस प्रकार संकुचित कर लिये जाते हैं कि उनका आकार कौए आदि पक्षियों के आकार का होजाय। तब अधरोष्ठों के द्वारा वायु खींच कर जिह्वा से जल के समान पान करता हुआ उदर तक भरने का प्रयत्न करे और कुछ देर रोककर दोनों नासापुटों से धीरे-धीरे निकाल दे। इसे शीतली कुम्भक कहते हैं।

बसके अभ्यास से अनेकानेक जीर्ण रोग दूर होजाते हैं। उदर के अजीर्णादि बिकारों का शमन होता है। कफ के विकार, जिगर, तिल्ली,

पित्त-दोष, सर्व ज्वर, क्षुधा, तृषा और विष आदि नष्ट होकर शरीर हृष्ट, पुष्ट, सुन्दर, सुगठित बन जाता है।

(४) मुख को बन्द करके दोनों नासापुटों द्वारा वायु को धीरे-धीरे इतना खींचे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय तक पहुँच जाय। फिर उसे जब तक रोक सके तब तक कुम्भक करके बाँये नासापुट से निकाल दे। अभ्यास करने से यह उज्जायी नामक कुम्भक शीघ्र सिद्ध हो सकता है।

यह नाड़ी-सम्बन्धी जलोदर, नाड़ी-व्रण (नासूर) तथा धातु-सम्बन्धी रोगों को दूर करने में भी हितकर है। कण्ठ में होने वाले कफज विकार, उदरशूल, अजीर्णादि भी दूर होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। आमवात, क्षय, कास, ज्वर, और दुष्ट हुई वायु में भी यह हितकर है। इसे चलते, फिरते, बैठते आदि सभी स्थितियों में कर सकते हैं।

(५) जिस प्रकार लोहार की धौंकनी चलती हुई हवा भरती है, उस प्रकार वाम नासापुट से वायु को उदर में भर कर धीरे-धीरे चलावे और कुम्भक करके धौंकनी के समान ही दक्षिण नासापुट से बाहर निकाल दे। यह भस्त्रिका कुम्भक कहलाता है,क्योंकि इसमें लोहार की धोंकनी चलने के समान ही वायु का बार-बार पूरण और रेचन करे।

इससे वात, पित्त, कफ के विकारों का शमन होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर मन्दाग्नि दूर होती है। नाड़ियों के मुखों का अवरोध करने वाला कफ वहाँ से हट जाता है, इसलिए वायु और रक्त का नियमित संचार होने लगता है। योगाचार्यों के अनुसार यह प्रयोग कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण में भी अत्यन्त सहायक है।

(६) पूरक के पश्चात् वायु को जितनी देर तक सरलता से रोका जा सके उतनी देर तक रोक कर कुम्भक करता हुआ उसे धीरे-धीरे बाँए नासापुट से निकाल दे। इस क्रिया को सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं, इसके अभ्यास से कपाल का शोधन, वातदोष का नाश और कृमिदोष का शमन होता है तथा शरीर पूर्ण स्वस्थ और निरोग होजाता है।

ध्यान रहे कि कुम्भक की किसी भी विधि का उपयोग तभी हितकर है, जब कि साधारण प्राणायाम का अभ्यास कर लिया जाय। प्रातःकाल उठ कर शौच-स्नानादि से निवृत्त होने के उपरान्त इसका अभ्यास करना चाहिए। मन को शुद्ध रखे, दृष्टि को स्थिर करे और रेचन के समय वायु को धीरे-धीरे निकाले, क्योंकि वेग से निकाला जाने वाला निरुद्ध वायु शरीर के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। यदि वायु खींचते (पूरक करते) समय वायु को वेग से ग्रहण किया जाय तो उसमें प्रायः हानि की संभावना नहीं रहती। परन्तु रेचक के समय इसमें सावधानी बर्तना आवश्यक होता है। इसलिए कुम्भक करने वालों को उक्त निर्देश पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

———

रोग-निवारण और प्रत्याहार

प्रत्याहार उस कर्म का नाम है, जिसमें विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को विषयों से निकाल कर विकार-रहित किया जाता है। स्वास्थ्य-रक्षा का यह एक ऐसा उपाय है, जो कि आरोग्य के साथ ही साथ चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करके ईश्वर में विश्वास और समर्पण-भाव प्रकट करने में समर्थ होता है।

चित्त का विषयों की ओर दौड़ना ही सब रोगों को जन्म देने वाला है, क्योंकि उसी से इन्द्रियाँ विकार-ग्रस्त होकर व्यसनों में फँस जाती हैं और व्यसनों की अधिकता ही विभिन्न रोगों की उत्पत्ति में सहायक होती है। यदि प्रयत्न-पूर्वक चित्त को इतना स्थिर कर लिया जाय कि वह इन्द्रियों को इधर-उधर दौड़ने से रोक सके तो प्रथम तो कोई रोग

उत्पन्न होगा ही नहीं और यदि प्रमादवश हो भी गया होगा तो उसका शमन शीघ्र हो सकेगा ।

प्रत्याहार का इस प्रकार से अभ्यास करना कि वह इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण कर सके, धारणा और ध्यान के अभ्यास के लिए भी एक सुपुष्ट मनोभूमि बनाने में सहायक हो सकता है। इसलिए भी प्रत्याहार की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता । इसे सशक्त बनाने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम की निम्न क्रिया भी इसके साथ करने का निर्देश दिया है । यथा—

सर्वांग प्राणायाम

'नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः' इत्यादि (जावाल-) दर्शन) के अनुसार स्वस्तिका आसन लगा कर निश्चल चित्त से बैठे और दोनों नासापुटों से श्वास खींच कर मस्तक से पाँवों पर्यन्त धारण करे, यह वायु धारणात्मक प्रत्याहार है जिससे सब प्रकार के वात रोगों का पूर्ण रूप से शमन होता है ।

एक विधि यह भी है कि काकी मुद्रा के द्वारा दन्तमूल से धीरे-धीरे दीर्घ श्वास खींचे और क्रमशः कण्ठ और हृदय से ले जाता हुआ नाभि, कुण्डलिनी और मूलाधार तक लेजाय, फिर वहाँ से हटाकर कटि के दोनों भागों में, जाँघों के मध्य में, घुटनों में, पिण्डलियों में और फिर पाँव के अँगूठों में ले जाकर उस वायु को रोके तो इससे शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा नस-नाड़ियाँ शुद्ध होकर शरीर को निरोग बना देती हैं। परन्तु श्वासावरोध की यह क्रिया अभ्यास करते-करते सिद्ध होपाती है, इसलिए धैर्य से कार्य लेना चाहिए ।

जो लोग यम-नियमों का पालन करते हैं, उनके लिए इन्द्रियों के प्रत्याहरण में कुछ विशेष कठिनाई नहीं होती । क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग का शोधन तो स्वतः ही होजाता है। तत्पश्चात् आसनों और प्राणायामों

की क्रियाएँ भी उनके रहे सहे मल को दूर करने में सहायक होती हैं और तब साधारण से प्रयत्न में ही इन्द्रियाँ विषयों के प्रति विरक्त होकर प्रत्याहार की स्वतः सिद्धि कर देती हैं।

परन्तु, प्रत्याहार का अर्थ भोगों का नितान्त उन्मूलन नहीं है। योग का अभिप्राय मनुष्य को भोगों के यथार्थ रूप का ज्ञान कराना और फिर उसे मोक्ष-मार्ग पर प्रेरित करना है। उसके अनुसार किसी भी सांसारिक भोग को शरीर की आवश्यकता मान कर ही स्वीकार करना चाहिए, जिससे कि भोग और योग में एक सामञ्जस्य बना रहे। उसमें अति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस भोग में भी अति की जायगी, वही शरीर पर अपना विकृत प्रभाव डाले बिना नहीं रहेगा।

इस प्रकार अति के द्वारा पड़ने वाला विकृत प्रभाव ही पंचभूतात्मक शरीर के रस, रक्त, मज्जा आदि को दूषित कर देता है। उसी से वात, पित्त, कफ का प्रकोप होकर अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। उन रोगों की उत्पत्ति को रोकने के लिए ही योगाचार्यों ने प्रत्याहार की कल्पना की है।

आत्म-शोधन के लिए भी प्रत्याहार की आवश्यकता स्वीकार की जाती है, उसके द्वारा मनुष्य जिस अलौकिक उपलब्धि की ओर अग्रसर होता है, वह भी शरीर के स्वस्थ रहने पर ही सम्भव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रोग-निवारण और स्वास्थ्य-वर्द्धन में प्रत्याहार का भी बहुत उपयोग है।

रोग-निवारण में धारणा का उपयोग

यद्यपि किसी रोग के निवारण में धारणा का कोई प्रत्यक्ष उपयोग दिखाई नहीं देता, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से उसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह शरीर पंचभूतों से निर्मित है, जिनमें से किसी भी एक भूत (तत्व) की कमी से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे कि पाश्चात्य विज्ञान विटामिनों की कमी से ही विभिन्न रोगों की उत्पत्ति या शारीरिक विकारों की उपस्थिति का होना मानते हैं।

धारणाएँ पांच हैं—पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवी और आकाशी। पार्थिवी धारणा पृथ्वी की, आम्भसी जल की, वायवी वायु की, आग्नेयी अग्नि की, और आकाशी आकाश की होती है। इन पंच धारणाओं का समान रूप से अभ्यास किया जाने से शरीर में विद्यमान पाँचों भूत सम अवस्था में रहते हैं, इस कारण शरीर में किसी प्रकार के विकार या रोग की प्राप्ति नहीं होपाती।

योग-क्रियाओं का उद्देश्य जहाँ पारलौकिक सुख की प्राप्ति है, वहाँ वह भौतिक सुख की भी उपेक्षा नहीं करता। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है तो ईश्वर-चिन्तन में भी चित्त नहीं लग सकता, इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर ही योगाचार्यों ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि नाम से योग के आठ अंग निश्चित किये, जिनमें प्रथम चार तो स्वास्थ्य-रक्षा के लिए प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी हैं ही और शेष चार में धारणा और ध्यान में भी जो रोग-निवारण की प्रबल शक्ति भरी हुई है, उसके अप्रत्यक्ष होने से अनुभवी व्यक्ति ही लाभ उठा पाते हैं।

पंचधारणा-सिद्धि का विधान

संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब पंचभूतों का ही चमत्कार है। भौतिक विज्ञान की सम्पूर्ण भित्ति इन्ही के दृढ़ आधार पर टिकी हुई है। इससे इनमें निहित शक्ति का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। यदि इन तत्वों को अपने अनुकूल बना लिया जाय तो शरीर में कभी कोई रोग उत्पन्न नहीं हो सकता।

धारणा का अर्थ है ध्यान के द्वारा ग्रहण करने या देखने की शक्ति और इस प्रकार पंचधारणा का अभिप्राय हुआ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्वों के उपयोग का यथार्थ ज्ञान। जब ऐसा ज्ञान होजाता है, तब उस विद्वान् पुरुष को उन-उन तत्वों में निहित शक्ति-सामर्थ्य को अपने शरीर में भर लेने के अभ्यास में सुगमता होजाती है।

परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि धारणा-सिद्धि के इस विज्ञान को ठीक प्रकार से समझा जाय और उसके अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभव से स्वयं का और मनुष्य मात्र का हित-साधन किया जाय। योगतत्वोपनिषद् के 'वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है, उसके लिए पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की धारणा सिद्ध होजाती है।

सुषुम्ना नाड़ी को महापथ कहकर उसकी जिस विशिष्टता की ओर संकेत किया गया है, उस पर ध्यान जाते ही धारणा के महत्व का अनुमान होजाता है। सुषुम्ना के मुख पर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है, जो कि प्राणायाम के द्वारा प्राण-अपान का मेलन होने से जागकर प्राण और चित्त के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट होती व षट्चक्रों को वेधती हुई सहस्रार में जा पहुँचती है। उसके षट्चक्र वेधन तक की क्रिया भौतिक एश्वर्यों को भी प्राप्त कराने में समर्थ है, जिससे शरीर के सब

रोगों की भी निवृत्ति हो सकती है। इसलिए उन धारणाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन करना आवश्यक है।

पार्थिवी धारणा

इसमें पृथिवी तत्त्व को ध्यान के अभ्यास द्वारा अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता है। पृथिवी तत्व में बड़ी भारी शक्ति है, यह अपने आकर्षण में महान् पर्वतों तक को खींच कर स्थिर किये हुए है। यहाँ तक कि सूर्य, चन्द्रमा जैसे विशिष्ट ग्रह भी इसी के आकर्षण में बँध कर अपने-अपने नियम में दृढ़ रहते हैं।

इसका ध्यान इस प्रकार करे कि पृथिवी चार कोण वाली, पीतवर्ण की, 'ल' अक्षर से युक्त है। उसमें वायु का आरोप करके स्वर्ण-वर्ण वाले चतुर्भुज और चतुर्मुख व्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। इस तत्व की अधिकता मूलाधार चक्र में मानी गई है, क्योंकि मूलाधार चक्र का तत्व पृथिवी और तत्वबीज 'ल' ही है।

मूलाधार में असाधारण विद्युत् शक्ति भरी रहती है। पृथिवी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के समान मानवपिण्ड में भी दो ध्रुव माने गए हैं—ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान सहस्रार उत्तरी ध्रुव और जननेन्द्रिय के मूल में दक्षिणी ध्रुव। इनमें से इस दक्षिणी ध्रुव की शक्ति के भण्डार का मूल्यांकन भी मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है।

इस तत्व की धारणा-सिद्धि होने पर पृथिवी तत्व की कमी से उत्पन्न होने वाले सभी रोगों का शमन-निःशेष रूप से हो सकता है। रक्ताल्पता, निर्बलता, शुक्रविकार, क्लैव्य आदि रोग नष्ट होजाते हैं। कोष्ठबद्धता आदि रोग कभी होते ही नहीं।

आम्भसी धारणा

यह धारणा जल से सम्बन्धित है। जल का वर्ण शंख या चन्द्रमा के समान श्वेत एवं 'व' अक्षर से युक्त होता है। इस तत्व की अधिकता

स्वाधिष्ठान चक्र में रहती है, क्योंकि उस चक्र का तत्व जल और तत्व-बीज 'व' ही है। इसमें वायु का आरोप करके भगवान् विष्णु का ध्यान करना चाहिए।

इस धारणा की सिद्धि से जल के विकृत होने के कारण उत्पन्न हुए विकारों का शमन होता है। प्लुरिसी में फेंफड़ों को प्रभावित करने वाले जल का पोषण होकर शीघ्र ही आरोग्य लाभ होता है। शरीरस्थ द्रव-पदार्थों की उत्पत्ति और गति नियमित होती है। ग्रन्थियों के अनियमित स्रावों का नियमन होकर शरीर स्वस्थ होजाता है। यह धारणा आवश्यक रसों को उत्पन्न करती और रक्त का भी शोधन करती है।

आग्नेयी धारणा

इस धारणा की सिद्धि से अग्नि तत्व अनुकूल होता है, जिससे जठराग्नि प्रदीप्त होती और सभी उदर विकारों का शमन होजाता है। योगशास्त्रियों के अनुसार इसका स्थान नाभि में है, जहाँ कि मणिपूर चक्र की स्थिति मानी गई है। योगतत्वोपनिषद् के अनुसार अग्नि का स्थान गुदा से हृदय पर्यन्त है। यह त्रिकोणाकार और 'र' अक्षर से युक्त तथा तरुण सूर्य के समान तेजस्वी है। इसमें चित्त को नियोजित कर भगवान् रुद्र का ध्यान करना चाहिए।

वायवी धारणा

वायु का अर्थ आक्सीजन या प्राण से भी लिया जाता है। शरीरस्थ त्रिदोषों में वायु का प्रथम स्थान है और इसके प्रकोप से शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होजाते हैं। उदरस्थ वायु के विकृत होने से उदर शूल गैस, अरुचि आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। शरीर-स्तम्भ, पक्षाघात, आमवात (गठिया) आदि भी वायु के प्रकुपित होने से ही होते हैं। परन्तु यदि वायु की धारणा द्वारा इसकी अनुकूलता प्राप्त कर ली जाय तो समस्त वात-विकारों का शमन किया जा सकता है।

वायु को सत्वगुण वाला तत्व मानते हैं। इसका स्थान हृदय से भौंहों तक माना गया है। यहीं अनाहत चक्र की अवस्थिति है। यह छः कोण का, धूम्र वर्ण वाला तथा 'म' अक्षर से समन्वित होता है। इसमें चित्त को एकाग्र करके मरुत्-स्थान में 'य' अक्षर के सहित सर्वज्ञ विश्वोतोमुख ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इसके अभ्यास से शरीर हल्का होजाता है। अंग-संचालनादि की क्रिया नियमित होती और साधक के पाँवों में इतनी शक्ति भर जाती है कि वह बहुत तेजी से चलता हुआ भी थकता नहीं।

आकाशी धारणा

आकाश भी पंचभूतों में से एक है। इसका वर्ण समुद्र के शुद्ध जल के समान माना गया है। यह वृत्ताकार, 'ह' अक्षर से समन्वित और प्रकाशमान है। इसका स्थान भृकुटियों से मूर्द्धा पर्यन्त होता है। इसमें वायु का आरोप करके विन्दु स्वरूप भगवान् शंकर का ध्यान करना चाहिए।

यह तत्व विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र दोनों को अपने प्रभाव में रखता है। क्योंकि यह विशुद्ध चक्र का देवता होने के कारण उस पर अपना सीधा अधिकार रखता है, जबकि आज्ञाचक्र की स्थिति भौंहों के मध्य होने से आकाश की परिधि में आने के कारण उसी का आश्रित होता है। इसके द्वारा मनुष्य की शारीरिक अवस्था सदा ठीक रहती और मानसिक रूप से भी शान्ति बनी रहती है। योगाचार्यों के अनुसार आकाशी धारणा को अनुकूल कर लेने वाला साधक अत्यन्त शक्तिशाली और विज्ञानवेत्ता होजाता है। उसे आकाश में गमन करने तक की शक्ति प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार पंचभूतों की धारणा का विधान आत्मोन्नति के लिये ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है। इनके

अभ्यास से मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए किसी औषधादि के सेवन की आवश्यकता नहीं रहती।

परन्तु, इसका अभ्यास योग के अन्यान्य अंगों के साथ करना अधिक हितकर रहता है। क्योंकि सभी अंग एक-दूसरे के पूरक हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक पवित्रता तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति में बहुत सहायता मिल सकती है।

ध्यान से रोगों का समाधान

चित्त की चंचलता से राग, द्वेष या काम-क्रोधादि विकारों की उत्पत्ति होकर अनेक प्रकार के रोगों का आविर्भाव होजाता है। यदि उसे चलायमान होने से रोका जा सके तो अवश्य ही स्वास्थ्य रक्षा और मानसिक शान्ति बनी रह सकती है।

चित्त की एकाग्रता के लिए ध्यान बहुत उपयोगी साधन है। इसमें जिन शक्तियों को केन्द्रीभूत करने की सामर्थ्य है, उनके द्वारा मनुष्य सम्मोहन शक्ति से सम्पन्न हो सकता है। आधुनिक हिप्नोटिज्म विज्ञान का आश्रय ध्यान ही है, जिसके द्वारा हिप्नोटिस्ट बड़े-बड़े अद्भुत चमत्कार दिखाते और अनेक प्रकार के रोगों का शमन बिना औषधि के ही कर दिया करते हैं।

पाश्चात्य देशों में अनेक ऐसे सम्मोहन केन्द्र हैं, जिनमें हिप्नोटिज्म या सम्मोहन पद्धति के द्वारा रोगों के उपचार किये जाते हैं। मैस्मरिज्म के आविष्कर्त्ता डा० मेस्मर ने एक ऐसा चिकित्सा केन्द्र स्थापित किया था, जिसमें हिस्टीरिया रोग से पीड़ित रोगिणियों का सफलता पूर्वक उपचार किया जाता था।

उनके उस रोगी-कक्ष में एक प्रकार के मादक संगीत के बजते रहने की व्यवस्था थी। उसमें रोगी इतना तन्मय होजाता था कि उसके चित्त में चंचलता नहीं रहती थी और उसके ज्ञान तन्तुओं पर संगीत की ध्वनि का ही प्रभाव बना रहता था। इस प्रकार उनमें चित्त की एकाग्रता रखी जाती और साथ ही एक ऐसा विश्वास भी जाग्रत किया जाता था कि रोगी यह मानने लगता कि वह रोग मुक्त होरहा है।

रोगियों को सामूहिक रूप से बैठा कर या खड़े रख कर सभी के शरीरों से चुम्बक युक्त छड़ी का स्पर्श कराया जाता था। उस स्पर्श में वह अमिट विश्वास और अटूट श्रद्धा भरी रहती थी कि रोगी दिनों-दिन स्वस्थ होता जाता और अन्त में उसे केन्द्र से छुट्टी दे दी जाती।

वहाँ के अनेक दन्त-चिकित्सक जब किसी का दाँत निकालना आवश्यक समझते, तब उस पर सम्मोहन का प्रयोग करके बिना किसी यन्त्र या औषधि-प्रयोग के कष्ट-रहित रूप से ही दाँत निकाल देते थे। रोगी को यह पता भी नहीं चलता था कि उनका दर्द वाला दाँत कब निकल गया अथवा दर्द कभी था भी या नहीं।

इसी प्रकार प्रसव-वेदना पर भी परीक्षण किये गए और जब यह पाया गया कि प्रसव के समय गर्भिणी के चित्त को सम्मोहन-पद्धति द्वारा एकाग्र करने से वेदना की अनुभूति नहीं रहती और सुख पूर्वक प्रसव होजाता है, तब कुछ चिकित्सकों ने उक्त पद्धति की श्रेष्ठता स्वीकार की और उसका व्यवहार करने लगे।

प्राचीन आचार्यों ने योग के सभी अंगों पर भारी खोज की और उनके लाखों वर्षों के अनुभव का जो निचोड़ निकला, उससे ध्यान की भारी महिमा सिद्ध हुई और उसका साधन करने वाले साधकों को उससे जो लाभ पहुँचा, उसका संकेत विभिन्न योग ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

आधुनिक विज्ञान में वेदनायुक्त अंगों पर शामक प्रभाव डालने के लिए उन्हें सुन्न करने वाले द्रव्यों के प्रयोग का विधान है। यदि किसी

अवयव का आपरेशन करना होता है, तो भी सुन्न करने या मूर्छित करने वाले द्रव्यों का प्रयोग सूचीभेद (इंजेक्शन) के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार का विधि-विधान भारतीय चिकित्सा-प्रणाली में भी है, चाहे उसमें पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली से थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो।

चिकित्सकों ने अंग को सुन्न करने या रोगी को पूर्ण रूप से मूर्च्छित करने की विधि को किस प्रकार खोजा? इसका अनुमान लगायें और योग की क्रियाओं से उसका सामञ्जस्य स्थापित करें तो यह स्पष्ट हो-जाता है कि उसके मूल में योग विधियों और उनके सिद्धान्तों की ही प्रमुखता हो सकती है। ध्यान में एक वह अवस्था उत्पन्न होजाती है, जिसके द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों की भी सुधि-बुधि नहीं रहती, उस अवस्था में चाहे जिस अंग में सुई घुसाने या काटने पर भी कोई पीड़ा नहीं होती, इस अनुभव का प्रतिफल ही चिकित्सा विज्ञान द्वारा कल्पित सुन्न करने वाली दवाओं के रूप में सामने आया प्रतीत होता है।

सरदार पटेल के विषय में कहा जाता है कि एक बार डाक्टरों को उनकी आँख का ऑपरेशन करना पड़ा। उस समय उनसे बेहोशी की दवा सूँघने को कहा गया तो, उन्होंने कहा कि मुझे बेहोश होने की जरुरत नहीं है, आप निश्चिन्त होकर आपरेशन कर डालें। जब बहुत बार कहने पर भी उन्होंने नहीं माना तो डाक्टरों को विवश होकर बिना बेहोश किये ही उनकी आँख का आपरेशन करना पड़ा। परन्तु, सरदार पटेल उस समय जरा भी हिले-डुले नहीं, वरन् प्रसन्न मुख से लेटे रहे। इससे स्पष्ट होजाता है कि उनको ध्यान का अभ्यास इतना बढ़ा चढ़ा था कि उन्होंने चित्त को कहीं अन्यत्र केन्द्रित कर लिया, जिससे उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा का अभ्यास ही न हुआ।

इस प्रकार यह अनुमान लगाना सुगम होजाता है कि किसी भी प्रकार की वेदना को ध्यान के द्वारा भुलाया जा सकता है। इसके द्वारा

शिरशूल, उदरशूल, हाथ-पाँवों का दर्द अथवा अन्यान्य प्रकार के वातिक शूल का शमन होना तो सामान्य बात है ही, अत्यन्त भयंकर वेदना वाले विकारों को भी दूर किया जा सकता है।

ध्यान की अन्तिम अवस्था समाधि और उसके द्वारा शरीर का कायाकल्प

योग का आठवाँ अंग समाधि यद्यपि पृथक् रूप से निर्दिष्ट है, तथापि यथार्थ में वह ध्यान की अन्तिम और ऐसी तन्मयतामयी अवस्था है, जिसमें बाह्य संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और सुख-दुःख की भी अनुभूति नहीं होपाती। वैसी अवस्था में शरीर का कोई अंग चीर फाड़ या काट दिया जाय तो समाधिस्थ व्यक्ति को इसका कुछ भी पता नहीं चल सकता।

पाश्चात्य देशों के कुछ शल्य चिकित्सक भी जब बिना बेहोश किये केवल सम्मोहन शक्ति के द्वारा सम्मोहित करके ही रोगी का आपरेशन करते थे, तब उसमें इसी सिद्धान्त का समावेश रहता था। वे सम्मोहन शक्ति के द्वारा विश्वास में लाकर रोगी को समाधि की अवस्था में लेजाते थे और निश्चिन्त होकर आपरेशन में सफलता प्राप्त करते थे।

इस प्रकार समाधि की अवस्था से केवल आत्म-दर्शन या मोक्ष-प्राप्ति ही नहीं होती, वरन् भौतिक उपलब्धियाँ भी सरल होती हैं। इस अवस्था में रोगी का शल्य चिकित्सा द्वारा अंग-परिवर्तन तक किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप कुरूप मनुष्यों को आश्चर्य-जनकरूप से सुन्दर और सुगठित बनाकर उनका कायाकल्प-किया जा सकता है।

———

सूर्य-किरणों में रोग-शामक शक्ति

योग-चिकित्सा में सूर्य-चिकित्सा का भी समावेश

सूर्य की किरणों में आरोग्य-दायिनी और रोग-निवारिणी शक्ति भरी पड़ी है। धूप में वह सामर्थ्य है कि यदि उससे ठीक प्रकार से लाभ उठाया जा सके तो कभी किसी रोग की संभावना ही न रहे। इस विषय में वेदों और उपनिषदों में भी स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है—

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा।' (सूर्योपनिषद्) अर्थात् 'सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जंगम के आत्मा हैं, इन्हीं से सब भूतों की उत्पत्ति होती है, इन्हीं से यज्ञ, मेघ और आत्मा का आविर्भाव होता है।'

इसी उपनिषद् में कहा है—'आदित्योऽन्तःकरण मनोबुद्धि चित्ताहंकाराः, आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपान; प्राणः, आदित्यो वै श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणः, आदित्यो वै वाक्पाणिपादपायूपस्थाः, आदित्यो वै शब्दस्पर्श रूप रसगन्धाः' अर्थात् 'सूर्य ही अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं, सूर्य ही व्यान, समान, उदान, अपान और प्राण (पंच प्राण) हैं, सूर्य ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण हैं, सूर्य ही पंच कर्मेन्द्रिय एवं वही उनके पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं।

इससे प्रकट होता है कि शरीर में सूर्य के अंशों का पूर्ण रूप से समावेश है और यदि वे अंश प्राकृतिक रूप से स्थित रहते हैं तो किसी भी दोष या विकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो गई हो तो उन अंशों को पूर्ण कर लेने से रोगों का शमन शीघ्र हो सकता है।

वेदों में सूर्य की रोगनाशक शक्ति की मान्यता

सूर्य की रोग-नाशक शक्ति को मान्य करते हुए वेदों में भी बहुत कुछ कहा गया है। ऋग्वेद (१।५०।११) के अनुसार 'हे सूर्य ! तुम उदित होकर आकाश में उठो और मेरे हृदय-रोग तथा पीतवर्ण को दूर करो।' आगे कहा है कि 'हे देदीप्यमान देव ! तुम्हारी लाल रश्मियों के द्वारा मेरा पाण्डु रोग नष्ट होता जा रहा है।' (ऋक् १।५०।१२)

हमारे आचार्यों की मान्यता से पाश्चात्य विद्वानों ने भी बहुत कुछ लाभ उठाया और अनुसन्धानों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि सूर्य में रोग-निवारक शक्ति भरी पड़ी है, जिसका उपयोग किया जाना चाहिए। डा० सोले ने अपनी खोज का परिणाम स्पष्ट करते हुए कहा कि 'सूर्य में जितनी रोग-नाशक शक्ति विद्यमान है, उतनी शक्ति विश्व के किसी अन्य पदार्थ में नहीं है। कैंसर, नासूर और भगन्दर प्रभृति जो दुःसाध्य रोग विद्युत और रेडियम से भी ठीक नहीं किये जा सके, वे सूर्य किरणों के द्वारा ठीक होगए।'

डा० मार्सेल पोमेलोक्स ने अपने निबन्ध में कहा कि 'सौर मण्डल से तूफान आने से पहिले हृदय रोग के दौरों की जितनी संख्या होती है, उससे चौगुनी संख्या तूफानों के बाद हो जाती है।' इससे व्यक्त होता है कि सूर्य के तूफान ग्रस्त होने पर उसकी रोग-निवारक शक्ति पर आवरण पड़ जाता है, जिससे रोगों की वृद्धि होने लगती है।

डा० हानेग का कथन है कि 'रक्त का पीला या पतला होना, शरीर में लौह की कमी, नसों की दुर्बलता, थकान, पेशियों में शैथिल्य आदि रोगों में सूर्य की सहायता से चिकित्सा करने के समान कोई भी चिकित्सा मेरे अनुभव में नहीं आई।' इससे स्पष्ट है कि सूर्य-किरणों के प्रभाव से शरीर, नस और माँसपेशी आदि की शिथिलता भी दूर की जा सकती है।

क्षयरोग के विशेषज्ञ डा० हरनिल के अनुसार 'मैंने विगत ३० वर्षों से प्रायः सभी प्रसिद्ध औषधियों की अपने चिकित्सालय में आये हुए लगभग २० हजार रोगियों पर परीक्षा की, परन्तु उनमें से किसी का भी सन्तोषप्रद परिणाम नहीं निकला। अब विगत तीन वर्षों से मैं अपने रोगियों पर सूर्य चिकित्सा प्रणाली का प्रयोग कर रहा हूँ, जिससे इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि क्षय रोग के रोगियों के लिए सूर्य-शक्ति से बढ़ कर कोई भी औषधि नहीं है।

सूर्य-रश्मियों का रक्त पर प्रभाव

सूर्य की किरणों के स्पर्श से रक्त की शुद्धि और वृद्धि होती है। इसलिए जिन रोगियों में रक्त की कमी हो या जिनका रक्त दूषित हो, उन्हें धूप-सेवन से औषधादि के सेवन की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। क्योंकि औषधादि से जो लाभ होता है वह अस्थायी होता है, जब कि सूर्य-किरणों के प्रयोग से स्थायी लाभ की उपलब्धि होती है।

रक्त के दूषित होने से अनेक प्रकार के चर्म-रोग हो जाते हैं, उनकी जितनी अच्छी चिकित्सा सूर्य की किरणों से हो सकती है, उतनी किसी अन्य उपचार से नहीं हो सकती। चमड़ी पर दाग, विवर्णता, शोथ, फुंसी, घाव, खुजली या दर्द आदि में इनसे आशातीत लाभ होता है। किरणों के सीधे प्रकाश से पुराने फोड़े या घाव आदि भी सूख जाते हैं और बड़ी कठोर गाँठें भी नरम होकर ऐसी गायब होजाती हैं, जैसे कि कभी थी ही नहीं।

अस्थियों से सम्बन्धित गम्भीर रोग भी इससे मिट जाते हैं। टूटी हुई हड्डी भी किरणों का सम्पर्क पाकर जुड़ जाती हैं, परन्तु उसमें किरणों को विशेष प्रकार से केन्द्रित करके आक्रान्त स्थान पर उनका प्रकाश डालना चाहिए, इसी प्रयोग से दाद, छाजन एवं कुष्टादि रोगों को भी सफलता पूर्वक ठीक किया जा सकता है।

दीर्घ रोग के कारण चमड़े पर हुई सिकुड़न या खुरखुरापन भी इससे ठीक होता है। शरीर की मलीनता दूर होकर विशेष प्रकार की चमक आती है। सूर्य-किरणों से विधि पूर्वक लाभ उठाने वाले व्यक्तियों के मुख मंडल तेज से चमक उठते हैं। यदि अस्थियों में अशक्तता होती है तो भी इससे दूर हो सकती है, क्योंकि सूर्य किरणों में विटामिन डी, फास्फोरस और कैलशियम की उत्पत्ति निहित है। इसीलिए सूखा रोग में भी इनसे लाभ उठाया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिक विद्युत-तरंगों या रेडियम किरणों आदि के द्वारा बड़ी गम्भीर बीमारियों का इलाज किया करते हैं। इन पद्धतियों में भी सूर्य-रश्मि चिकित्सा की प्रणाली से ही प्रेरणा प्राप्त की गई है। कुछ लोग स्नायविक रोगों में धूप-स्नान से हानि होना मानते हैं, परन्तु कोई भी क्रिया विधि पूर्वक न की जाय तो प्रत्येक अवस्था में हानि कर सकती है। इसलिए सविधि की जाने वाली चिकित्सा से सभी रोगों में लाभ संभव है।

धूप-स्नान की सरल विधि

धूप में नंगे शरीर बैठकर उस पर किरणों का डाला जाना ही धूप स्नान या सूर्य-स्नान है। इसकी सरल विधि यह है कि रोगी को धूप में टहलना, बैठना या खेलना चाहिए। शवासन से लेटकर या पद्मासन से बैठकर नाड़ीशोधन प्राणायाम करना भी श्रेष्ठ धूप-स्नान है। अथवा किसी कुर्सी, चौकी, चबूतरा या मुंडेर पर भी बैठ सकते हैं। बैठने की अवधि ३० मिनट से १ घंटा तक हो सकती है। आवश्यकतानुसार समय में कमी-वेशी कर सकते हैं।

धूप-स्नान के समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि धूप इतनी तेज न हो जो सुहावे नहीं। अधिक हल्की धूप से भी कार्य नहीं चल सकता। प्रातःकाल ८-१० बजे के मध्य धूप-स्नान अधिक हितकर रहता है। जाड़े की ऋतु हो तो यह क्रिया मध्याह्न काल में भी की जा सकती है।

सूर्य मन्त्र का रोग-नाशक प्रभाव

हमारे आचार्यों ने सभी कार्यों की सम्पन्नता में मन्त्र को प्राथमिकता दी है और आत्म-विकास के साथ-साथ मन्त्र विज्ञान के प्रयोग द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा का भी विधान किया गया है। सूर्योपनिषद् में 'ओ३म् घृणि सूर्य आदित्य' मन्त्र का उल्लेख है। उस अष्टाक्षर के लाभ का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि 'सूर्य की ओर मुख करके उक्त मन्त्र का जप करने से भयंकर रोगों से भी छुटकारा मिलता है, दरिद्रता दूर होती और सभी पाप (विकार) दूर होजाते हैं। सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुए इस मन्त्र का जप किया जाय तो महामृत्यु से भी पार होता है।

सूर्य में सप्त रंगों के समावेश की मान्यता है। सूर्य चिकित्सा के विशेषज्ञ उसके प्रत्येक रंग को सार मानते हुए, किसी भी रंग की कमी से रोग की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं। उसमें पीला, लाल, नीला, हरा, बैंगनी, सिन्दूरी और सिलेटी अथवा आस्मानी यह सात रंग माने गए हैं, जिनमें पीला, लाल, नीला यह तीन रंग प्रमुख हैं, कुछ लोग सिलेटी या आस्मानी के स्थान पर धूम्र वर्ण का होना बताते हैं।

सूर्य-किरणों में सात रंगों का समावेश

सूर्य-किरणों के इन रंगों में वात, पित्त, कफ अथवा आकाश, वायु, तेज जल और पृथिवी तत्वों का पूर्ण रूप से समावेश है, और शरीर में भी उक्त सात रंगों का समावेश होना माना जाता है। इसलिए शरीर में उक्त रंगों की कमी से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं और सूर्य रश्मि-चिकित्सकों का विश्वास है कि जिस किसी रंग की कमी पायी जाँय, उसकी पूर्ति कर देने पर रोग-निवारण होना पूर्ण स्वाभाविक है।

इन रंगों की पूर्ति इस प्रकार की जा सकती है कि जिस खिड़की या दरवाजे से धूप आती हो, उसमें उक्त रंगों के काँच फिट करने की

सुविधा बना ली जाय। प्रत्येक रंग का काँच पृथक् फ्रेम में जड़वा कर रखें और जब जिस रंग की आवश्यकता हो तब खिड़की पर उस रंग का फ्रेम फिट करके उस शीशे से आने वाली किरणों को रोगाक्रान्त अंग पर डालने का प्रयत्न करें। इसकी अवधि ३० मिनट से १ घण्टा तक की हो सकती है।

उक्त सात रंगों की सात बोतलें लें, उनमें पानी भर कर धूप में रखें, यह पानी आठ घण्टे निरन्तर धूप में रहने से सिद्ध होजाता है। जब जिस रंग का पानी लेना आवश्यक हो तब उस रंग की बोतल से लेना चाहिए, इसका दवा के रूप में प्रयोग किया जाता है। रोग की सामान्य या जटिल अवस्था देख कर १-२ तोले की मात्रा में दिन में ३ से ५ बार तक दे सकते हैं।

अनेक विशेषज्ञों के मत में वात का रंग नीला, पित्त का लाल या गहरा पीला तथा कफ का श्वेत या हल्का पीला होता है। बैंगनी अथवा हरा रंग वात-पित्त का, सिलेटी या आस्मानी वात-कफ का तथा सिन्दूरी वात का ही माना जाता है। अथवा पंच तत्वों की दृष्टि से इस प्रकार समझिये कि पृथिवी का रंग पीला, जल का सफेद, अग्नि या तेज का लाल, वायु का धुँए के समान काला या नीला और आकाश का आस्मानी होता है।

उक्त तथ्य को भले प्रकार हृदयंगम करके रोगी के दोषादि के अनुसार उसकी चिकित्सा में समावेश किया जाना चाहिए। जैसे कि वात-विकार के कारण शिर-शूल हो तो उसमें शूलग्रस्त अंग पर नीला प्रकाश डालने और नीली बोतल का जल पीने से लाभ हो सकता है। यदि अन्य कोई वात-विकार हो तो भी उसमें नीले प्रकाश और जल का उपयोग किया जाना चाहिए।

पित्त के प्रकोप में लाल या सिन्दूरी रंग का प्रयोग करना चाहिए। यदि पित्तज ज्वर हो तो उसमें बाँह पर लाल वस्त्र में खूबकला के दाने

लपेट कर बाँध दें। कफज विकारों में शरीर पर चाँदी का कोई आभूषण धारण करना अधिक हितकर होता है। साथ ही श्वेत बोतल का जल पीवें और दूधिया रङ्ग के काँच से सूर्य का प्रकाश ग्रहण करें।

वात-पित्त के दोष से उत्पन्न रोगों के शमनार्थ हरे रङ्ग के काँच से शरीर पर धूप डालें और हरी बोतल का जल पीवें। परन्तु वात कफ के प्रकोप में आसमानी रङ्ग का ग्रहण किया जाना उचित होता है। यदि उसमें नीलापन अधिक और सफेदी कम हो तो इसका अर्थ होगा कि वह रङ्ग वात की अधिकता में अधिक कार्य करेगा।

कफज विकारों को दूर करने के उद्देश्य से शरीर पर सीधी धूप लेनी चाहिए। पानी सफेद बोतल का लिया जा सकता है अथवा सारा भी। परन्तु ग्रीष्म ऋतु हो तो सीधी धूप ग्रहण करने से हानि की सम्भावना रहती है, इसलिए दूधिया काँच से प्रकाश ग्रहण करना चाहिए।

रङ्गों और उनके रोग-निवारक गुण के प्रति इससे भिन्न मत भी हैं, परन्तु उक्त निष्कर्ष की अधिक मान्यता समझी जाती है।

शरीर-शोधनार्थ आयुर्वेदोक्त पंचकर्म

आयुर्वेद ने किसी भी रोग की निवृत्ति के लिए वमन, विरेचन, नस्य निरूह वस्ति और अनुवासन वस्ति के रूप में पाँच कर्मों का विधान किया है। यद्यपि यह सभी कर्म योगशास्त्रों में वर्णित शोधन-कर्मों का ही पृथक् स्वरूप है, तथापि इनमें विधि-वैभिन्न होने के कारण, इनका भी वर्णन किया जाना आवश्यक है। परन्तु शास्त्र वचनों के अनुसार इनसे भी पहले प्रयुक्त होने वाले दो कर्म और हैं—स्नेहन और स्वदेन। इनकी आवश्यकता निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होजाती है—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात् संशोधनं तु यः ।
दारुशुष्कमिवायामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति स्नेहन और स्वेदन का अभ्यास किये बिना ही शरीर का शोधन करने में प्रवृत्त होता है, उसका शरीर सूखे हुए काष्ठ के समान विदीर्ण होजाता है ।

इससे सिद्ध हुआ कि स्नेहन और स्वेदन सबसे पहले होने चाहिए, इसलिए प्रथम उन पर ही प्रकाश डालते हैं—

स्नेहपान का विधान

स्नेह चार प्रकार का होता है—घृत, तैल, वसा (चर्बी), और मज्जा (अस्थियों के भीतर की चिकनाई) । इनमें भी योनि भेद के कारण दो प्रकार ही प्रमुख रूप से हैं—(१) स्थावर और (२) जंगम । तिल का तैल स्थावर अर्थात् वृक्ष से उत्पन्न और घृत, वसा, मज्जा चलने-फिरने वाले पशुओं से उत्पन्न होने के कारण जंगम समझना चाहिए ।

घृत ३ दिन, तैल ४ दिन, वसा ५ दिन और मज्जा ६ दिन पीने से गुण करती है, इससे अधिक पीने से स्नेह सात्म्य अर्थात् आहार के समान होजाता और विशेष गुण नहीं करता है । स्नेह की मात्रा मन्द, मध्यम और दीप्त अग्नि के अनुसार २, ३ और ४ तोले तक है । अथवा २ तोले की मात्रा जठराग्नि वर्द्धक, वृष्य और अल्प दोषों में श्रेष्ठ है । ३ तोले की मात्रा रूक्ष प्रकृति वाले को स्निग्ध करने वाली, धातु-बर्द्धक और भ्रम (चक्कर) को शान्त करने वाली है । ४ तोले की मात्रा २४ घण्टे में पचती है तथा कुष्ट विषदोष ग्रहदोष अपस्मार और उन्माद में हितकर ।

पित्त-प्रकोप में केवल घृत, वात-प्रकोप में सेंधव युक्त घृत और कफ-प्रकोप में सोंठ, मिर्च, पीपल और यवक्षार युक्त घृत पीना उचित है । इसे रूक्ष, उरःक्षत और विष-विकार से त्रस्त, वात-पित्त से

पीड़ित तथा धारणशक्ति और स्मरणशक्ति से हीन व्यक्तियों को देना चाहिए।

कृमियों और वार्द के विकीरों से व्याप्त, कफ और मेद की वृद्धि तथा जठराग्नि की प्रदीप्ति वाले रोगी को तिलका तैल पिलाना चाहिए। क्योंकि उससे शरीर में कृशता, स्थिरता, हलकापन आकर कृमि और कोष्ठबद्धता मिटती है। इसे शीतकाल में उन व्यक्तियों को देना चाहिए, जिनके लिए यह हितकर सिद्ध हो सके।

व्यायाम से श्रान्त, दुर्बल, क्षीणवीर्य, क्षीणरक्त और प्रचण्ड अग्नि वाले को वसा का सेवन उपयुक्त है। परन्तु कठिन कोष्ठ वाले, विकारों से पीड़ित, दीप्त अग्नि वाले और कष्ठ-सहन करने में सहनशील व्यक्ति को मज्जा का पान कराया जा सकता है।

घृत-पान के अनुपान रूप में गर्मजल, तैल-पान के पश्चात् यूष (जूस) तथा वसा और मज्जा पान के बाद चावल का माँड़ पीना हितकर होता है। जो लोग स्नेहपान से बचना चाहते हों, उन बाल, वृद्ध, स्त्री, दुर्बल या तृषा से पीड़ित व्यक्तियों को ग्रीष्म काल में भात के साथ घृत आदि का सेवन करानाउचित है। अथवा तिल २ भाग और चावल १ भाग की घृत युक्त यवागू (पतली खिचड़ी) बना कर सुखोष्ण पिलाने से भी स्नेहन कर्म होजाता है। अथवा शर्करा और घृत मिलाकर दूध-दुहने के पात्र में रखे और उसमें गाय का दूध दुह कर तत्काल गर्म-गर्म (धारोष्ण) पिला दें तो शीघ्र ही स्नेहन कर्म होता है।

यदि स्नेह के न पचने की शंका उत्पन्न होगई हो तो उसे गर्म जल पिलाना चाहिए। इससे शुद्ध डकारें आतीं और भोजन में रुचि होती है। यदि पित्त प्रकृति प्रधान मनुष्य की अग्नि स्नेहपान से तीव्र होकर बहुत प्यास लगे तो उसे वमन कराने के लिए गर्म जल पिलावें और वमन होजाय तब ठण्डा जल दें। इससे प्यास शान्त होजाती है।

ध्यान रहे कि स्नेहपान करने वाले व्यक्ति को कसरत आदि व्यायाम, शीतल पदार्थों का सेवन, रात्रि-जागरण, दिवाशयन, मल-मूत्र के वेग का

रोकना या रूक्ष एवं कफकारी पदार्थों का सेवन करना अहितकर होने से निषिद्ध है।

स्वेदन कर्म और उसकी उपयोगिता

शार्ङ्गधरादि ग्रन्थों में चार प्रकार का स्वेदन कर्म माना है—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद। इन चारों के द्वारा वात-पीड़ा दूर होती है। इनमें ताप और ऊष्म से कफ का, उपनाह से वात का तथा द्रवस्वेद से वात-पित्त मिश्रित रोगों का शमन होता है।

तापस्वेद वह है जिसमें बालू या अन्य वातनाशक औषधियों की पोटली बना कर गर्म की जाती है और उससे शरीर पर सेंक करने से पसीना निकलने लगता है। ऊष्म स्वेद में औषधियों के गर्म क्वाथ का बफारा देने से पसीना निकलता है। उपनाह स्वेद में रोग के आक्रान्त स्थान पर औषधियों का गर्म-गर्म लेप किया जाता है अथवा औषधियों की पिण्डी बना कर गर्म-गर्म बांधते हैं, उससे भी पसीना निकलता है, उसे पुल्टिस बाँधना भी कहते हैं। द्रव स्वेद में रोगी को औषधियों के काढ़े आदि में बैठा कर पसीना निकालते हैं।

कफ विकार में रूक्षस्वेद अर्थात् बालू की पोटली, रुई या वस्त्र को गर्म करके उससे सेंकना चाहिए। कफ-वात के विकार में रूक्ष और स्निग्ध स्वेद अर्थात् घृतादि स्निग्ध और बालकादि रूक्ष पदार्थों की पोटली बनाकर उससे सेंक करें। कफ-मेद युक्त वात विकार में कोयले आदि से गर्म किये हुए स्थान में या धूप में बैठें अथवा परिश्रम के कार्य कुश्ती लड़ना, मार्ग चलना, बोझा उठाना आदि करे या कम्बल, रजाई आदि ओढ़ ले तो इससे भी पसीना निकलता है।

जिन रोगियों को नस्य (नाक में औषधि डालने या सूँघने की क्रिया), वस्ति (पिचकारी द्वारा गुदमार्ग से उदर में तैल आदि पहुँचाने की क्रिया) अथवा मल-शोधनार्थ विरेचन (जुलाब) देना हो तो उन्हें

पहले स्वेदित क्रिया जाने से शीघ्र लाभ सम्भव होता है। जिस स्त्री के उदर में गर्भ का शल्य हो, उसके निकल जाने या मूढ़ गर्भ का पतन होने अथवा समय पर या समय से पहले शिशु का जन्म होजाने पर भी प्रसूता को स्वेदित करना अधिक हितकर रहता है।

भगन्दर, बवासीर या पथरी रोग से पीड़ित रोगी का यदि शस्त्र-कर्म (ऑपरेशन) करना हो तो उसे पहले स्वेदित करके वह कर्म किया जाना अधिक उपयुक्त है। जब भी स्वेदन कर्म करना हो तब यह ध्यान रखा जाय कि रोगी का आहार (भोजन) पच गया हो और स्वेदत करने का स्थान वायु-रहित एवं एकान्त हो। इस कर्म से धातुओं में विद्यमान दोष कोष्ठ में पहुँच कर पतले होजाते और गुदमार्ग से बाहर निकल जाते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि निम्न रोगों में स्वेदन कर्म वर्जित है। यदि बहुत आवश्यक हो तो अत्यन्त हल्का पसीना लाना चाहिए। अजीर्ण, दुर्बलता, प्रमेह, पाण्डु, रक्तपित्त, तृषा, मद-विकार, अतिसार, उदर-रोग या उरःक्षत आदि से क्षीण हुए रोगी या गर्भिणी स्त्री को पसीना लाने का निषेध है। हृदय-रोग, अण्डकोष और नेत्र रोगों में हल्का पसीना लाया जा सकता है।

यदि अनावश्यक रूप से अधिक स्वेद लाने की क्रिया की जाती है तो सन्धियों में वेदना, जलन, तृष्णा, तन्द्रा, चक्कर, रक्तपित्त अथवा फोड़े-फुन्सियों का प्रकोप सम्भव है। ऐसा होने पर शीतल उपचार करने अपेक्षित होते हैं शरीर की सर्दी, पीड़ा, जकड़न और भारीपन आदि के दूर होने और कोमलता आजाने तथा जठराग्नि के बढ़ने पर स्वेदन क्रियाएँ बन्द कर देनी चाहिए।

भले प्रकार स्वेदन कर्म पूर्ण होने पर रोगी को शरीर पर तैल की मालिश करके गर्म जल से स्नान करना और कफकारक पदार्थों से रहित पदार्थों का भोजन करना चाहिए। स्वेदन कर्म के उपरान्त कसरत आदि व्यायाम करना वर्जित है।

वमन विधान और उसका उपयोग

वमन के लिए सामान्य रूप से शरद् वसन्त और प्रावृट् ऋतुओं का निर्देश है। विरेचन के लिए यही समय उपयुक्त माना गया है। आश्विन-कार्तिक में शरद् चैत्र-वैशाख में वसन्त और ग्रीष्म के अन्त तथा वर्षा के आदि में प्रावृट् काल होता है। उस समय न तो अधिक धूप हो और न अधिक वर्षा ही। क्योंकि शोधन कर्म में वर्षा काल निषिद्ध है।

वमन ऐसे रोगी को कराना चाहिए जो बलवान् हो और वमन कर्म को सहन कर सकता हो। विष-विकार, स्तन्यरोग, अजीर्ण, मन्दाग्नि, हृदय रोग, श्लोपद, अर्बुद, विसर्प, प्रमेह, भ्रम, विदारिका, अपची, श्वास, कास, पीनस वृषणवृद्धि, मृगी, हिस्टीरिया, उन्माद, ज्वर, रक्तातिसार, नासापाक, तालुपाक, जिह्वापाक, ओष्ठपाक कर्णस्राव, गलशुण्डी, अतिसार, कफ-पित्त के विकार, अरुचि, मदोरोग तथा कफ की व्याकुलता आदि में वमन-कर्म उचित होता है।

अत्यन्त दुर्बल, अत्यन्त वृद्ध, स्थूल, भूखा उरःक्षत से पीड़ित, गर्भिणी स्त्री, मुख-नाक से रक्तस्रावी, वायु-रोगी, पाण्डुरोगी, स्वरभंगी, उदावर्ती और कृमियों से व्याप्त रोगी को वमन नहीं करानी चाहिए। वमन कराने के पश्चात् उसदिन रोगी ठण्डा जल न पीवे और अजीर्ण करने वाले गरिष्ठ पदार्थों को न खावे। कसरत आदि परिश्रम, तैल-मालिश, मैथुन क्रोध से भी बचना उचित है।

कफ के विकारों में वमन करानी हो तो रोगी को कटु, तीक्ष्ण और उष्ण औषधियाँ देनी चाहिए। छोटी पीपल, मैनफल और सैंधे नमक का महीन चूर्ण जल-योग से देकर वमन कराने से इच्छित फल होता है। पित्त रोगों शीतल और स्वादु औषधियाँ दी जाँय अथवा परवल के पत्तों, अड़ूसा और नीम की छाल का क्वाथ बनाकर ठण्डा होने पर पिलाया जाय। वात-युक्त कफ के दोष हों तो मधुर, लवण और उष्ण पदार्थों से वमन कराई जाय अथवा मैनशिल को पीसकर दूध के साथ

पिलावें। आयुर्वेद के अनुसार वमन कराने के लिए काढ़े की औषधियाँ १६ तोले लेकर ३ सेर १६ तोले जल के साथ पकाकर अर्द्धावशेष कर लेना चाहिए।

जिसे वमन कराया जाय उसे पहले घृत आदि स्नेह पिलाकर स्निग्ध करें और पसीना दिलाकर स्विन्न करें, फिर उसे भर पेट यवागू, दूध, दही या मट्ठा पिलाकर अथवा रोगी भी प्रकृति के विरुद्ध या कफकारी पदार्थों को खिलाकर रोगी के दोषों को उभारें और तत्पश्चात् वमन कराई जाय तो वमन खुलकर होजाती है।

वमन कराने वाली औषधि पिलाकर रोगी को घुटनों के बल बैठावें और मुख में अरण्ड की नली लगाकर कण्ठ को सहलाते हुए वमन करादें और जब वमन होने लगे तब रोगी के मस्तक और दोनो पार्श्वों को सहलाते रहें। यह ध्यान रहे कि वमन की औषधि रोगी का बलाबल देखकर इतनी मात्रा में देनी चाहिए कि जिससे वमन ठीक प्रकार से हो सकें, कम या अधिक न हो। क्योंकि ठीक प्रकार से वमन न होने पर रोगी के मुख से अनपेक्षित लालास्राव, हृत्पीड़ा, शरीर में चकत्ते और खुजली चलना आदि उपद्रव होते हैं।

परन्तु अधिक वमन होने से भी तृषाधिक्य, हिक्का, डकार संज्ञाशून्यता, नेत्रों का चढ़ना या बाहर की ओर निकल आना, जीभ का भी बाहर निकलना या भीतर चली जाना, हनुस्तम्भ, वमन में रक्त-मिश्रण और कण्ठ में पीड़ा आदि उपद्रव होते हैं।

ठीक प्रकार से वमन होने पर हृदय, कण्ठ और मस्तक में स्थित दोषों का शोधन होकर हृदय हल्का, कण्ठ स्वच्छ और मस्तक में शान्ति का अनुभव होता है। जठराग्नि में तीव्रता और शरीर और लाघवता (हल्कापन) उत्पन्न होकर कफ-पित्त का वमन होजाता है। यदि वमन समान ढंग से होजाय, कम या अधिक न हो, तो तन्द्रा, निद्रा, खुजली, ग्रहणी, मुख में दुर्गन्धि और विषविकारादि कभी नहीं होते।

वमन से उत्पन्न उपद्रवों के उपचार

अधिक वमन होने लगें और चित्त में अशान्ति हो तो कोमल जुलाब (मृदु विरेचन) देना चाहिए। यदि जिह्वा बाहर निकल आई या भीतर चली गई हो तो घृत-तैलादि युक्त, खट्टे, नमकीन या मन को प्रसन्न करने वाले पदार्थ, (घृत, दूध और रसों के साथ मिला कर) मुख में धारण करावें और उसके सामने बैठ कर अन्य व्यक्ति नीबू आदि खट्टे फलों को काट कर खाय तो जिह्वा अपने स्थान पर पूर्वरूप में आजाती है। यदि जीभ बाहर निकल आई हो तो तिल और मुनक्का का कल्फ बनाकर जीभपर लेप करें और उसे हाथ से भीतर बैठा दें।

यदि नेत्र बाहर निकल आये हों अथवा भीतर की ओर धँस गए हों तो उन पर घृत लगाकर धीरे-धीरे सहलाने से लाभ होता है। यदि हनुस्तम्भ (ठोड़ी जकड़न) होगई हो तो पसीने देकर वातनाशक नस्य देने से लाभ सम्भव है। यदि वमन के साथ खून आता हो तो रक्तपित्त रोग के अनुसार उपचार करने से बन्द हो जाता है। यदि अधिक वमन के कारण तृषाधिक्य (अधिक प्यास) हो तो आँवला, रसोत, खस, धान की खील, लाल चन्दन और नेत्र बाला समान भाग लेकर कूटें और ४ तोले की मात्रा में लेकर १५ तोले ठण्डे जल में डाल कर मिट्टी के बर्तन में रई से खूब चलाकर मथें और छानकर यह मन्थ ८ तोले तक की मात्रा में लेकर उसमें घृत, मधु और शक्कर मिलाकर पिला दें। इससे तृष्णादि एवं उससे उत्पन्न पीड़ा शान्त होती है।

विरेचन (जुलाब) का विधान

जिस रोगी को विरेचन देना हो, उससे पहले स्नेहन से स्निग्ध, फिर स्वेदन से स्विन्न और वमन से वान्त करे। तत्पश्चात् उसे जुलाब देना चाहिए। यदि एक दम जुलाब ही दे दिया जाता है तो उससे कुपित हुआ कफ नीचे पहुंच कर ग्रहणी (पाकाशय) को दबा देता है,

जिससे मन्दाग्नि और प्रवाहिका (पतले दस्त) आदि होकर शरीर में भारीपन एवं अफरा आदि उपद्रव होने लगते हैं।

अथवा पाचन द्रव्यों से आँव और कफ को पचाकर स्नेह-पान से स्निग्ध और स्वेदन-विधि से स्विन्न करके बिना वमन कराये ही विरेचन कर्म करा सकते हैं। सामान्य रूप से विरेचन के लिए शरद् ऋतु और वसन्त ऋतु श्रेष्ठ हैं। यदि अन्य किसी ऋतु में जुलाब देना आवश्यक हो तो देश काल और रोगी के बलाबल एवं प्रकृति के अनुसार दिया जा सकता है।

बालक, वृद्ध, अत्यन्त स्निग्ध, निर्बल, उरःक्षत या धातुशोषादि से क्षीणता को प्राप्त, भयभीत, श्रान्त, तृषित, स्थूल, नवीन ज्वर से युक्त मन्दाग्नि युक्त, मदात्ययी, काँटा-काँच या शस्त्रादि के लगने से पीड़ित, स्थूल, शरीर, गर्भिणी, नवप्रसूता और रूक्ष प्रकृति के मनुष्यों को प्रायः तब तक विरेचन न दें, जब तक कि उसकी अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत न हो। उस स्थिति में भी बहुत विचार कर ही देना चाहिए।

जीर्ण ज्वर, विष-विकार, वातरक्त, अर्श, भगन्दर, पाण्डु, उदर-विकार, ग्रन्थि, हृदय रोग, अरुचि, गुल्म, वमन, विशूचिका, यकृत-विकार, कृमि-विकार, शूल, योनिरोग, प्रमेह, प्लीहा, व्रण, विद्रधि, कुष्ट, चर्मरोग, कर्णरोग, नासारोग, शिरोरोग, मुखरोग, गुदरोग, लिंगेन्द्रिय के रोग, नेत्ररोग, वातरोग, शोथ तथा मूत्राघात आदि से पीड़ित व्यक्ति विरेचन के लिए योग्य माने गए हैं। पित्तरोग, आमवात, अफरा और कोष्ठबद्धता आदि में भी जुलाब दिया जाना चाहिए। सशक्त एवं बलवान मनुष्य को तीव्र विरेचन दे सकते हैं, जबकि अल्प बलवाले को मृदु विरेचन दिया जाय।

पित्त की अधिकता वाले रोगी का कोष्ठ मृदु, कफाधिक्य वाले का मध्यम और वाताधिक्य में क्रूर (कड़ा) कोठा होता है। कड़े कोठे वाले को दस्त होने में कठिनाई रहती है। इसलिए मृदु कोठे वाले को लघु

मात्रा में मृदु औषधि, मध्यम कोठे वाले को मध्यम मात्रा में मध्यम औषधि और क्रूर कोठे वाले को तीव्र मात्रा में तीक्ष्ण औषधि दी जाती है। काढ़ा, फाण्ट, हिम आदि की लघु मात्रा २ तोले, मध्यम मात्रा ४ तोले और तीव्र मात्रा ८ तोलें हैं। कल्क, मोदक या चूर्ण की लघु मात्रा १ तोले, मध्यम २ तोले और उत्तम ४ तोले है। कुछ लोग कल्कादि में भी २ से ८ तोले की मात्रा ही उचित मानते हैं।

ऋतु के अनुसार विरेचक द्रव्यों का प्रयोग

ग्रीष्म ऋतु में निशोथ के चूर्ण में समान भाग मिश्री मिला कर देने से विरेचन होता है। वर्षा ऋतु में निशोथ, इन्द्रयव, छोटी पीपल, सोंठ और मुनक्का से क्वाथ में मधु मिला कर देना चाहिए। शरद् ऋतु में निशोथ, जवासा, नागरमोथा, शर्करा, श्वेत चन्दन और मुलेठी के चूर्ण को मुनक्का के क्वाथ के साथ देकर दस्त कराने चाहिए। हेमन्त ऋतु में निशोथ, चित्रकमूल, पाठा, जीरा, देवदारु वच और स्वर्णक्षीरी के चूर्ण को गर्म जल के साथ दिया जाय। शिशिर और वसन्त दोनों ऋतुओं में छोटी पीपल, सोंठ, सैंधव, कालीसर और निशोथ के चूर्ण को शहद में मिला कर चटाना उचित है।

पित्त की अधिकता हो तो निशोथ का चूर्ण मुनक्का आदि के क्वाथ में मिलाकर, कफाधिक्य हो तो त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) का चूर्ण त्रिफला-क्वाथ और गौमूत्र में डालकर तथा नाताधिक्य या वात रोगों में निशोथ, सेंधव और सोंठ के चूर्ण को नीबू के रस में मिलाकर पिलाना चाहिए।

मृदु कोष्ठ में मुनक्का, दूध, गर्म जल और अरण्डी का तैल, मध्यम कोष्ठ में निशोथ, कुटकी और अमलताश का गूदा, तथा क्रूर, कोष्ठ में थूहर का दूध, स्वर्णक्षीरी और जमालगोटा के बीज आदि औषधियाँ विरेचन के लिए उपयोगी रहती हैं।

विरेचन द्रव्य का सेवन करके रोगी के नेत्रों पर जल के छींटे दें और कोई सुगन्धित द्रव्य (इत्रादि) सुँघाकर पान खिला दें। फिर वायु-रहित स्थान में पहुँचाकर बार-बार सुखोष्ण (गुनगुने गर्म) जल का पान करावें। ठण्डे जल का स्पर्श भी न होने दें और रोगी को आदेश दें कि वह मल-मूत्र के वेग को न रोके।

यदि विरेचन ठीक प्रकार नहीं होता, अपेक्षा से कम या अधिक होता है तो उससे अनेक प्रकार के उपद्रव हो सकते हैं। कम दस्त होने से नाभि पर भारीपन दर्द, पसलियों में दर्द, मल और वायु का अवरुद्ध होना, शरीर में खुजली, चकत्ते, दाह, अरुचि, अफरा, शरीर टूटना, वमन एवं चक्कर आना आदि उपद्रव होते हैं।

अधिक विरेचन होने से गुद-भ्रंश, कफस्राव की अधिकता माँस के धोवन आदि के समान पतले दस्त, दस्तों के साथ रक्त जाना या अधिक दस्तों के कारण चक्कर या मूर्छा आदि उपद्रव हो सकते हैं। यदि विरेचन समान रूप से ठीक होता है तो मन में प्रसन्नता, शरीर में हल्कापन और वायु का अनुलोमन अर्थात् अपने स्थान में ठीक प्रकार से आवागमन होता है। जब ऐसी स्थिति प्रतीत हो तो रोगी को रात्रि के समय अरण्ड की जड़ सोंठ और धनिये का क्वाथ बना कर पिलावें अथवा इसी के समान गुण वाला कोई अन्य पाचन द्रव्य सेवन करावें।

यदि कम दस्त हों तो रोगी को पाचन औषधियाँ देकर आँव को पकाना और घृतादि से स्नेहन करके स्निग्ध करना चाहिए, इसके पश्चात् पुनः विरेचन देने से उपद्रव शान्त होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इसके विपरीत अपेक्षा से अधिर दस्त होने पर शरीर में शीतल जल के छींटे दें और चावल के धोवन को मधु मिला कर पिलावें तथा शीतल द्रव्यों के द्वारा हल्की वमन करावें। इससे अधिक विरेचन के उपद्रव शान्त हो सकते हैं।

विरेचन लेने के बाद अधिक वायु, ठण्डा जल, तैल-मालिश, कसरत आदि व्यायाम अथवा मैथुनादि से बचना चाहिए तथा शालि चावल या

साँठी चावल और मूँग की यवागू बना कर सेवन करनी चाहिए। विरेचन कर्मों में यही पथ्य पदार्थ श्रेष्ठ माना गया है।

इस प्रकार विरेचन कर्म की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ सशक्त और बलवान होती हैं। चित्त में प्रसन्नता और धातुओं में स्थिरता आकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यदि इसे विधि सहित सम्पन्न किया जाय तो शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और आयु में स्थिरता (दीर्घ जीवन) की प्राप्ति होजाती है।

नस्य (सुँघनी) की विधि

नासिका द्वारा ग्रहण की जाने वाली औषधि को नस्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) रेचन, और (२) स्नेहन। रेचन नस्य वातादि दोषों को खींचती और स्नेहन नस्य धातुओं की वृद्धि करती है। शिर-पीड़ा, जड़ता, स्वरभंग, शोथ, गण्डरोग, कृमिरोग, गाँठें, कुष्ट, पीनस, अपस्मार आदि में रेचन नस्य और वातज पीड़ा, अर्द्धाविभेदक शूल, सूर्यावर्त, स्वरक्षय, नासाशोष, मुखशोष, मूत्रकृच्छ्र, अपबाहुक, नेत्रों में अन्धकार आदि में स्नेहन नस्य दी जाती है।

कफज विकारों में प्रातःकाल, पित्तज में मध्याह्न काल और वातज में सायंकाल नस्य दी जाय। यदि रोग की अत्यन्त प्रबलता हो तो रात्रि काल में भी नस्य दी जा सकती है। परन्तु भोजन के अन्त में, बादल घिरे होने के समय या जोर की हवा चल रही हो तब नस्य न दें। लंघन के बाद, प्रतिश्याम से पीड़ित, विष-विकार से त्रस्त, अजीर्ण-अफरा आदि से युक्त या गर्भिणी को नस्य न दी जाय। आठ वर्ष से कम आयु वाले को और अस्सी वर्ष से अधिक आयु वाले को भी नस्य नहीं देनी चाहिए।

विरेचन नस्य

अति तीक्ष्ण तैलों या तीक्ष्ण औषधियों से सिद्ध किये गए स्नेह, क्वाथ या रस की विरेचन नस्य ली जाती है। तैल आदि की चार बूँदें

नासिका-छिद्रों में छोड़ना मृदु, ६ बूँदें मध्यम और ८ बूँदें उत्तम मानी जाती हैं।

विरेचन नस्य अवपीड़न और प्रधमन के भेद से दो प्रकार की है। तीक्ष्ण औषधियों के कल्क के निचोड़ने से निकला हुआ स्वरस अवपीड़ और तीक्ष्ण औषधियों के चूर्ण को छः अंगुल लम्बी दुमुँही नली में भरकर नासिका छिद्रों पर लगा कर मुख से फूँक दिया जाय, वह प्रधमन नस्य है। इनकी योजना रोगी का बलाबल और अवस्था विशेष के अनुसार की जाती है।

स्नेहन नस्य के दो भेद

मर्श और प्रतिमर्श के भेद से स्नेहन नस्य के दो प्रकार हैं इसमें मर्श की मात्रा ३ माशे से २ तोले तक की होती है, जो कि एक-एक नासा-छिद्र में दिन में २-३ बार अथवा १-२ दिन का अन्तर देकर या तीसरे, पाँचवें, सातवें दिन बल और अवस्थानुसार दीजानी चाहिए।

प्रतिमर्श नस्य घृत-तैलादि स्नेह से दी जाती है। मात्रा—२-२ बूँद प्रत्येक नासाछिद्र से डालनी चाहिए। यह प्रातःकाल, दाँतुन करने के बाद, घर से बाहर जाते समय, कसरत आदि के अन्त में, मार्ग चलने के बाद, मल-मूत्र त्याग के उपरान्त, नेत्रांजन लगाने के पश्चात्, वमन के अन्त में या सायंकाल दीजाती है। नस्य लेने वालेव्यक्तियों को अभिष्यन्दी (दही आदि कफ कारक) पदार्थ नहीं खाने चाहिए तथा यम-नियमों के पालन पूर्वक रहना चाहिए।

वस्ति का विधान

'वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्मादवस्तिरिति स्मृतः' अर्थात् जिसके द्वारा वस्ति दी जाती है उसे वस्ति कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मृगादि के अण्डकोश से बनी हुई एक थैली-जैसी के द्वारा गुदा में औषधि की पिचकारी दी जाती है, वह थैली ही वस्ति कहलाती है। वस्ति के दो

भेद माने गए हैं—अनुवासन और निरूह। इन पर क्रम से प्रकाश डालेंगे।

अनुवासन का भेद मात्रा वस्ति

अनुवासन वस्ति का भेद मात्रा वस्ति है। उसकी मात्रा ४ तोले से ८ तोले तक की मानी गई हैं। रूक्ष शरीर का, तीक्ष्ण अग्नि वाला और जो केवल वातरोग से पीड़ित हो, उसे अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। अजीर्ण, उन्माद, तृषा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, श्वास, कास और क्षयरोग वालों को अनुवासन वस्ति का निषेध है।

पिचकारी के लिए स्वर्णादि धातु, काष्ठ, बाँस, नरसल, दाँत सींग के अग्रभाग अथवा मणि आदि की नली बनानी चाहिए इसका प्रमाण इस प्रकार है कि मूँग के बराबर मोटे छेद की ६ अंगुल लम्बी नली ६ वर्ष तक के लिए, मटर के समान मोटे छेद वाली ८ अँगुल की नली १२ वर्ष तक के किशोर के लिए तथा बेर की गुठली जितने मोटे छेद की १२ अँगुल लम्बी नली १२ वर्ष से अधिक आयु वाले सभी मनुष्यों के लिए प्रयुक्त की जानी चाहिए।

जैसे गाय की पूँछ ऊपर से मोटी और नीचे से पतली होती है, वैसे ही नली का भी आकार रहे और उसमें चिकनापन भी हो। अथवा ऊपर से रोगी के अँगूठे के समान मोटी नीचे से कनिष्ठिका के समान मोटाई वाली, गोल मुख की रहनी चाहिए। इस नली के ३ भाग छोड़कर चौथे भाग के प्रारम्भ में कमल की पंखुड़ियों के समान दो कर्णिका बनावें और उनमें वस्ति को दो बन्धनों से बाँध दें।

मृगादि के अण्डकोशों से वस्ति बनाने की विधि यह है कि हरिण, बकरा शूकर, बैल या भैंसे का अण्डोकश लेकर उसकी वस्ति बनावें। यदि इन पशुओं के अण्डकोश न मिल सकें तो इनके चमड़े से भी वस्ति बनाई जा सकती है। इसे कषैले रंग में रंग लिया जाय तो श्रेष्ठ है। यह वस्ति मृदु-चिकनी, दृढ़ और हितकर रहती है।

व्रण (घाव) आदि में लगाने के लिए विशेष आकार की वस्ति बनाई जाती है। उसकी नली ८ अंगुल लम्बी और चिकनी रहे। उसका मुख मूँग के समान मोटा रखा जाय और वह गृध्र के पंख के समान ढलवाँ बनाई जाय।

हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में अनुवासन वस्ति दिन में देनी उचित है। ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ऋतु में रात्रि के समय दी जाय। अत्यन्त स्निग्ध अर्थात् चिकने पदार्थों का भोजन करने के बाद अनुवासन वस्ति का निषेध है, क्योंकि भोजन में स्नेह और वस्ति में भी स्नेह रहता है। इस प्रकार दो बार स्नेहों का प्रयोग करने से मद एवं मूर्च्छा रूप उपद्रव हो सकते हैं। यदि बहुत रूखा भोजन करने के बाद अनुवासन वस्ति दी जाती है तो उससे भी बल और वर्ण का ह्रास सम्भव है।

अनुवासन वस्ति में हीन बल और मन्द अग्नि वालों के लिए। स्नेह की मात्रा ६ तोले, मध्यम बल और अग्नि वालों के लिए १२ तोले तथा उत्तम बल-अग्नि वालों के लिए २४ तोले दी जाती है। वस्ति के तैल की मात्रा (६ तोले) में शतावरी और सेंधव २ माशे, मध्यम मात्रा (१२ तोले) में ४ माशे और उत्तम मात्रा (२४ तोले) में ६ से ८ माशे तक रहनी चाहिए। यदि मात्रा अपेक्षा से अल्प दी जाती है तो वह अभीष्ट-पूर्ति नहीं करती और अधिक होजाती है तो उससे अफरा, अरुचि और अतिसारादि उपद्रव हो सकते हैं।

विरेचन कर्म के सात दिन पश्चात् जब रोगी के शरीर में पुनः शक्ति आजाय तब उसे भोजन के उपरान्त वस्ति दी जानी चाहिए। उसके शरीर में तैल-मालिश करके गर्म जल से धीरे-धीरे स्वेदित करे और फिर यवागू आदि उचित पदार्थ का भोजन करा कर इधर-उधर घुमावें और मल-मूत्रादि से निवृत्त करा कर वस्ति कर्म के लिए उसे बाँयी करवट से लिटावें और बाँयी जाँघ पसरवा कर दाँयी जाँघ को

सिकुड़वावें। फिर उसकी गुदा को तैल से चिकनी करके उसमें वस्ति की नली को रखें तथा वस्ति के मुख को डोरा से बाँध कर बाँये हाथ में ले लें तथा दाँये हाथ से धीरे-धीरे वस्ति (पिचकारी) को दबायें। वस्ति दबाने का समय ३० मात्रा का माना गया है अर्थात् ३० मात्रा का समय पूरा होने तक पिचकारी दबाई जाय। (चुटकी बजाता हुआ जितने समय में घुटने पर हाथ फिरे, उतना समय एक मात्रा होता है) दवा भीतर पहुँचने पर १ से १०० तक गिनती गिनने के समय पर्यन्त रोगी शान्त और चित्त लेटा रहे। वस्ति देने के समय में छींकना, खाँसना या जँभाई लेना आदि वर्जित है।

तदनन्तर हाथ-पांव आदि अंगों को सुख पूर्वक पसारें जिससे कि स्नेह का प्रभाव सब शरीर में फैल सके। फिर धीरे-धीरे हथेलियों और पांवों के दोनों तलुओं में तीन थपकियाँ लगावें, तत्पश्चात् कूल्हे और कमर में ३-३ थपकियाँ देकर चारपाई को पाँवों की ओर से ३ बार ऊँची करे। इस प्रकार करने के पश्चात् रोगी को सुख पूर्वक सुला दें।

वस्ति के द्वारा प्रविष्ट किया गया स्नेह यदि वायु और मल के साथ विना किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये हुए शीघ्र बाहर निकल आवे तो उसे श्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि पहले खाया हुआ अन्न पच जाय और वस्ति का तैल बाहर आ जाय और रोगी को भूख लगे तो उसे सायंकाल यथेष्ट हल्का भोजन कराया जाय। और दूसरे दिन गुनगुना जल अथवा धनियाँ और सोंठ का क्वाथ पिलाया जाय तो इससे अनुवासन वस्ति के स्नेह का कोई विकार शेष नहीं रहता।

इस प्रकार अनुवासन वस्ति ६ से ९ वार तक देनी चाहिए। इनके अन्त में निरूपण वस्ति देना उचित होता है। रोग पुराना हो तो वस्ति कर्म अधिक बार, अधिक दिनों तक दी जा सकती है। यदि अनुवासन वस्ति का केवल तैल ही बाहर निकल आवे तो उसे निरूपण वस्ति देनी चाहिए।

वस्ति के लिए वात-विकार नाशक तैल

गिलोय, अरण्ड मूल, करंज छाल, भारंगी, वासा, रोहिषतृण, शतावरी, पियावाँसा और काकनासा १-१ तोला, जौ उड़द, अलसी, वेर और कुलथी २-२ तोले लेकर जौकुट करें और १२ सेर ६४ तोले जल में डालकर पकावें। जब ३ सेर १६ तोले जल शेष रहे तब उतार कर छान लें और इसमें ६४ तोले तिल-तैल व १-१ तोला जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलहठी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी और जीवन्ती का कल्क डालकर तैल सिद्ध कर लें अर्थात् पकते-पकते तैल मात्र शेष रहने पर छान लें। यह तैल सब प्रकार के वात-विकारों को दूर करने वाला है, जो कि अनुवासन वस्ति में प्रयुक्त होता है।

निरूह वस्ति का विधान

इस वस्ति में काढ़े का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए काढ़े की हीन, मध्यम और उत्तम मात्रा क्रमशः ४८ तोले, ६४ तोले और १ सेर वताई गई है। यह वस्ति भी अनुवासम वस्ति की विधि से ही दी जाती है। स्निग्ध, स्विन्न हुए जिस व्यक्ति ने भोजन न किया हो, उसे मल-मूत्र त्याग कराकर घर के भीतर मध्याह्न काल में यह वस्ति दी जाय। निरूह वस्ति देने के पश्चात् निरूह (क्वाथ, तैलादि) के वाहर निकलने के लिए २ घड़ी (४८ मिनट) तक रोगी को उकडूं बैठाना चाहिए। यदि २ घड़ी में निरूह वाहर न निकले तो शोधक क्षार, मूत्र, नीबू के रस और सेंध नमक से निरूहण करके उस निरूह को वाहर निकालने का प्रयत्न करें।

निरूह वस्ति देने के पश्चात् जिस रोगी के मल, पित्त, कफ और वायु क्रमशः वाहर निकल कर शरीर हल्का होजाय तो समझना चाहिए कि वस्ति कर्म सफल होगया। इसके विपरीत यदि वस्ति के वाहर आने

में वेग की कमी, मल और वायु के निकलने के परिणाम में कमी, मूत्रोत्सर्ग में पीड़ा, शरीर में भारीपन और अरुचि हो तो वस्ति की असफलता समझनी चाहिए।

निरूह से लिए योग्य-अयोग्य रोगी

अत्यन्त स्निग्ध, दुर्बल, अफरा, वमन, हिचकी, अरोचक, मिचली, अर्श, श्वास, कास, गुदशोथ, विशूची, अतिसार कुष्ट, मधुमेह और जलोदर आदि रोग से पीड़ित व्यक्ति या गर्भिणी को निरूह वस्ति के अयोग्य समझना चाहिए। परन्तु वात-व्याधि, वातरक्त, उदावर्त, उदर रोग, अफरा, विषभ ज्वर, तृषा, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, मन्दाग्नि, शूल, अम्लपित्त, हृदय रोग और रक्तप्रदर आदि के रोगी निरूह वस्ति देने में योग्य होते हैं।

सुकुमार, बालक, वृद्ध आदि को मृदु वस्ति देनी चाहिए, क्योंकि यह तीव्र वस्ति को सहन नहीं कर सकते। प्रथम दोषों को उभारने वाली, फिर दोषों को नष्ट करने वाली और अन्त में दोष-शामक द्रव्यों की वस्ति देनी चाहिए।

उत्क्लेशनादि वस्ति की व्यवस्था

उत्क्लेशन (दोषों को उभारने वाली) वस्ति अरण्ड बीज, महुआ, पीपल छोटी, सेंधव, वच और हाऊबेर के कल्क से बनती है। सोंफ, महुआ, वेलगिरी और इन्द्रजों को कॉजी के साथ पीस कर गोमूत्र मिला कर दोषनाशक वस्ति होती है। प्रियंगुपुष्प, महुआ, नागरमोथा और रसौत समभाग को पीसकर दूध में मिला कर दोष-शामक वस्ति दी जाती है।

त्रिफला क्वाथ, गोमूत्र, मधु और यवक्षार में ऊषकादिगण का चूर्ण मिलाकर मेदोरोगनाशक (लेखन) वस्ति देते हैं। मधु, घृत, दूध और

तिल-तैल ८-८ तोले तथा सेंधव १ तोला की वस्ति दीपन करने के लिए दी जाती है।

वातरोग हो तो मधु १६ तोले में सेंधानमक १ तोला मिला कर मथें और फिर उसमें तैल या घृत २४ तोले अच्छी तरह मिलाकर औषधि कल्क ८ तोले और औषधि-क्वाथ ३२ तोले डालें तथा सब को मथ कर निरूह वस्ति दें। पित्त रोग में मधु की मात्रा तो १६ तोले ही रहेगी परन्तु स्नेह (तैल या घृत) की मात्रा १२ तोले रखें। परन्तु कफ-रोग में मधु २४ तोले और स्नेह १६ तोले लिया जाता है।

निरूहित व्यक्ति को गर्मजल से स्नान कराना उचित है। उसे दिवा शयन और रात्रि-जागरण का त्याग करना चाहिए। अजीर्णकारक भोजन न किया जाय। शेष पथ्यापथ्य अनुवासन वस्ति के समान है।

उत्तर वस्ति का विधान और उपयोग

अनुवासन और निरूह वस्तियों के पश्चात् उत्तर वस्ति के प्रयोग का विधान है। इस वस्ति की नली १२ अंगुल लम्बी, चमेली के पुष्प की डंडी जैसी मोटी और सरसों जैसे आकार छेद वाली होनी चाहिए, इसके मध्य में कमल के समान कर्णिका बनाना उचित है।

उत्तर वस्ति के लिए प्रयोग में आने वाले स्नेह की मात्रा २ से ४ तोले तक ली जाती है। २५ वर्ष से कम आयु के रोगी को २ तोले और उससे अधिक आयु वाले को ४ तोले दी जाय। निरूह वस्ति से शुद्ध तथा स्नान, भोजन आदि से निवृत्त व्यक्ति को घुटने की ऊँचाई के समान ऊँचे आसन पर खड़ा करके उसके उपस्थ के छिद्र में चिकनी सलाई चला कर पथरी की दूरी देखें ओर फिर सलाई निकाल कर पिचकारी की नली को घृत से चुपड़ कर धीरे-धीरे उपस्थ-छिद्र में ६ अंगुल तक प्रविष्ट करके वस्ति को दबा दें, जिससे कि वस्ति में भरा हुआ स्नेह भीतर पहुंच जाय

और तब नली को धीरे-धीरे बाहर निकाल लें। यदि स्नेह बाहर निकल आवे तो वस्ति की सफलता समझनी चाहिए।

स्त्रियों को दी जाने वाली उत्तर वस्ति की नली कनिष्ठिका के समान मोटी १० अंगुल लम्बी तथा मूँग प्रमाण छिद्र वाली बनाई जाय। इसे योनि के भीतर ४ अंगुल प्रविष्ट करें। मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करने के लिए बनाई जाने वाली नली बहुत पतली हो, जिसे २ अंगुल प्रविष्ट करके वस्ति दी जाय। यह वस्ति मूत्रकृच्छ्र (सुजाक) या पथरी के विकारों में दी जाती है।

उत्तर वस्ति बालकों को भी दी जा सकती है। उनको मूत्रकृच्छ्र रोग हो तो बहुत महीन नली १ अंगुल की लेकर उपस्थ में प्रविष्ट करके धीरे-धीरे पिचकारी दी जाय। इस समय यह सावधानी रहनी चाहिए कि हाथ सधा हुआ रहे, हिलने न पावे। इसमें स्नेह की मात्रा २ तोले होनी चाहिए।

स्त्रियों के योनिमार्ग में स्नेह की मात्रा ८ तोले और मूत्र-मार्ग में ४ तोले भर कर उत्तर वस्ति दी जाती है। स्त्री को सीधी लिटा कर उसके घुटने ऊपर उठवावें और उत्तरवस्ति दें। यदि वस्ति का स्नेह बाहर निकल कर न आवे तो ऐरण्ड तैल आदि शोधन-द्रव्यों से युक्त उत्तरवस्ति पुनः देनी चाहिए। ठीक प्रकार से दी गई उत्तरवस्ति का फल और रोग शान्त होने का क्रम स्नेह वस्ति के समान है।

विरेचक फलवर्ति की विधि

दस्त कराने के लिए आयुर्वेद ने फलवर्ति का विधान किया है। अंगूठे के समान कड़ी बत्ती बना कर एरण्ड बीज आदि विरेचक औषधियों के क्वाथ या एरण्ड-तैल आदि में भिगोकर रोगी की गुदा को घृत से स्निग्ध करके उसमें बत्ती प्रविष्ट करनी चाहिए। इससे खुल कर दस्त हो सकता है। यदि स्त्रियों के योनि-मार्ग में दी जाने वाली उत्तरवस्ति व्यर्थ हो

जाय तो यह फलवर्ति योनिमार्ग में रखी जा सकती है। यदि इसके रखने से दाह उत्पन्न होजाय तो दूध वाले बरगद आदि वृक्षों के क्वाथ या ठंडे जल की वस्ति देनी चाहिए। इससे स्त्रियों के ऋतु-सम्बन्धी विकार और पुरुषों के वीर्य-विकार दूर होते हैं। परन्तु प्रमेह के रोगी को उत्तरवस्ति देने का निषेध है।

आयुर्वेद के अन्य उपयोगी सिद्धांत

आयुर्वेद के अनेक सिद्धान्त सभी मनुष्यों के लिए उपयोगी और हितकर सिद्ध होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनका सम्बन्ध औषधि सेवन से ही हो, वरन् औषधि-सेवन न करते हुए भी यदि उनका पालन किया जाय तो इच्छित फल की सम्भावना स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसलिए उन सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने से रोगियों का बहुत कुछ हित-साधन हो सकता है।

लंघन और उसका उपयोग

लंघन का सीधा-साधा अर्थ है--भोजन म करना। भैषज्य रत्नावलि के अनुसार 'शरीर लाघवकरं यद्द्रव्यं कर्म वा पुनः' अर्थात् जो दृव्य शरीर को कृश करे, उसे लंघन-द्रव्य कहते हैं। उसमें जिस कर्म का निषेध है, वह लंघन कहलाता है। इससे समझना चाहिए कि लंघन का अभिप्राय भोजन ग्रहण न करना अथवा उपवास करना ही है।

आयुर्वेदज्ञ पुरुष ज्वर में लंघन करने का निश्चित निर्देश देते हैं। उनके अनुसार आमाशय में स्थिति दोष अपने प्रकोप के कारणों से

प्रकुपित होकर आमदोष से मिलते और जठराग्नि को मन्द कर देते हैं, जिससे रसमार्ग अवरुद्ध होकर ज्वर उत्पन्न होजाता है, यदि लंघन किया जाय तो उन दोषों का शमन शीघ्र हो सकता है।

इसी प्रकार उदर के अनेक विकार, जैसे अरुचि, अजीर्ण, मन्दाग्नि, उबकाई आदि में भी भोजन कर लेने से बहुत हानि होती है। यदि इन रोगों में भी लंघन किया जाय तो लाभ की अधिक सम्भावना रहती है। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक रोग हैं, जिनमें उपवास करने से आशातीत लाभ होता है।

परन्तु, लंघन कराने से पूर्व चिकित्सक या परिचारक का यह कर्तव्य होजाता है कि रोगी के बलाबल और रोग की अवस्था पर पूरी तरह ध्यान दे लिया जाय। यदि रोगी निर्बल हो तो उसे लंघन नहीं कराना चाहिए। क्षय ज्वर, वात ज्वर, भय ज्वर, काम-क्रोधादि से उत्पन्न या अधिक परिश्रम से उत्पन्न ज्वर में तो लंघन का विकार ही नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जिस अन्य रोग या भिन्न लक्षण में लंघन कराना अहितकर प्रतीत हो तो उसमें भी नहीं कराना चाहिए।

वर्तमान समय में चिकित्सक प्रायः लंघन कराने से बचते हैं, उसका कारण यही है कि लोगों में पहले जैसी शक्ति दिखाई नहीं देती, जिससे कि वे लंघन के परिणाम को झेल सकें। आजकल के एलोपैथिक-चिकित्सक तो चढ़े बुखार में भी अन्न खाने की सलाह दिया करते हैं।

परन्तु अनेक चिकित्सक लंघन को एक सीमा तक स्वीकार करते हैं और उन्होंने उसमें जो सुधार किये, उनके अनुसार रोगी को फलों का रस अथवा पतला दूध अवश्य दिया जाना चाहिए हमारी सम्पत्ति में आहार सम्बन्धी जो भी निर्णय लिये जांय वे ऐसे हों जिनसे रोगी को शीघ्र लाभ प्राप्त करने में सहायता मिलती रहे और रोगी इतना निर्बल न हो पाये।

एक सिद्धान्त है कि वात-प्रधान रोगी, क्षुधा, पिपासा और मुखशोष आदि से पीड़ित रहता है। इसलिए उसे और गर्भिणी स्त्री तथा दुर्बल

व्यक्ति को लंघन कराना उचित नहीं है। यदि किसी बलवान् व्यक्ति को भी लंघन कराना हो तो उसे निश्चित अवधि में ही पूर्ण करा देना चाहिए। क्योंकि अति लंघन का परिणाम कुछ अनुकूल नहीं होता, वरन् उसके कारण सन्धि-भंग जैसी वेदना, शरीर में व्रण या फोड़ों का उत्पन्न होना क्षुधा का नाश, मुखशोष, कास एवं जी घबराना आदि अनेक लक्षण दिखाई देते हैं।

उष्णोदक या गर्म जल

बहुत-से चिकित्सक अनेक रोगों में गर्म जल पीने की व्यवस्था करते हैं। इससे ज्वरांश कम होने में मदद मिलती है। यह जल रोग की अवस्था देखकर दिया जाता है। साधारण विकारों में केवल उबाला हुआ जल ठण्डा करके दिया जा सकता है। अनेक विद्वान् २५ प्रतिशत अंश जला कर अर्थात् सेर का तीन पाव करके रोगी को देते हैं। प्रसूता स्त्रियों को भी इसी प्रकार अधिक औंटाया हुआ जल देने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होपाता।

वात ज्वर, जीर्ण ज्वर आदि में यदि औषधि नहीं दी जाती तो प्रातः सायं दोनों समय आधपाव का आधी छटाँक किया हुआ पानी औषधि रूप में और उबला हुआ पानी जब भी प्यास लगे, तभी दिया जाता है, कुछ लोग पीने के पानी में औंटते समय लोंग डालकर औंटाना भी उचित मानते हैं। उनका कहना है कि लोंग डाल कर पकाने से पानी का दोष नष्ट होजाता है।

उबला हुआ पानी पीने से स्वरभंग और जुकाम में वहुत लाभ पहुँचता है। परन्तु गर्म जल सेवन करने वाले रोगी को बीच-बीच में ठण्डा (बिना औंटा या कच्चा) पानी कभी नहीं पीना चाहिए। यदि मलावरोध हो तो उसमें गर्म जल पीना वहुत लाभकारी रहता है। बहुत रोगों में औषधियों के अनुपान रूप में भी गर्म-जल के सेवन का

निर्देश है। खासकर उदर रोगों में तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है।

शार्ङ्गधर ने जल को मिट्टी के पात्र में आग पर औंटा कर अष्टमांश, चतुर्थांश या अर्द्धांश (आधा शेष) करके रखने का विधान किया है। यह सिद्ध उष्णोदक कहलाता है। इसे दूसरे मिट्टी के पात्र में रख कर रोगी को प्यास लगने पर पिलाते रहने का नियम है। इससे दोषों का शमन स्वतः ही होने लगता है। इस विषय में शास्त्र का कथन है—

तत्पादहीनं पित्तघ्नं तच्छेषमनिलापहम्।
अर्द्ध क्षय कफहरं शेषं ग्राहि त्रिदोषजित्॥

अर्थात्—'सेर का तीन पाव शेष (एक पाद हीन) जल पित्त का नाश करता है, चतुर्थांश शेष अर्थात् तीन पाद जल कर चौथाई बचा हुआ जल वातनाशक होता है, आधा शेष जल क्षय और कफ को नष्ट करता है तथा शेष विष्टम्भ और त्रिदोष नाशक है।'

परन्तु, सुश्रुत के मत में 'तत्पादहीनं वातघ्नमर्धहीनं तु पित्तजित्' इत्यादि के अनुसार 'चतुर्थांश हीन (सेर का तीन पाव शेष) जल वातनाशक, अर्द्धावशेष पित्तनाशक और चतुर्थांश शेष कफनाशक और दीपक होता है।' परन्तु मत की यह विपरीतता ऋतुभेद के कारण प्रतीत होती है। क्योंकि 'शारदं चार्धपादोनं पादहीनं तु हैमकम्' इत्यादि से चरक ने ऋतु अनुसार सिद्ध जल का गुण-विधान किया है कि 'शरद ऋतु नें अर्द्धावशेष, हेमन्त ऋतु में चतुर्थांश हीन (सेर का तीन पाव) शिशिर, बसन्त एवं ग्रीष्म में चतुर्थांश शेष (सेर का पावभर) तथा वर्षा ऋतु में अष्टमांश शेष जल पीने से दोषों का शमन होता है।

आयुर्वेद-विशेषज्ञों ने रात्रि के समय गर्म जल पीने को विशेष महत्व देते हुए कहा है–'श्लेष्मामवातमेदोघ्नं वस्ति शोधन दीपनम्, कास श्वास ज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि' (शार्ङ्गधर) अर्थात् 'रात्रि में उष्ण जल पीने

से कफ, आमवात और मेदोरोग दूर होते हैं और बस्ति का शोधन तथा दीपन होता है। खाँसी श्वास और ज्वर का भी हरण होजाता है।

दूध-पाक का विधान

कच्चा दूध, यदि वह तत्काल का कढ़ा हुआ (धारोष्ण) नहीं होता तो भारी होजाता है और उसके पीने से रोगी की रोगवृद्धि हुए बिना नहीं मानती। इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर ही आचार्यों ने कच्चा दूध न पीने की व्यवस्था दी थी। इसलिए दूध को गर्म करके ही पीना श्रेयस्कर रहता है।

कुछ लोगों के मत में दूध में दुगुना जल मिलाकर ओंटाना और पीना चाहिए। कुछ अन्य व्यक्तियों के अनुसार चौगुना पानी मिला कर ओंटाने का निर्देश ही सही निर्देश हो सकता है। परन्तु अधिक मिलाया हुआ पानी जलाकर दूध मात्र ही शेष रहने देना ठीक रहता है।

यदि औंटाते समय दूध में एक छोटी पीपल डाल दी जाय और औंटाने पर वह दूध में निकाल कर फेंक दी जाय तो दूध में विद्यमान दोषों का शमन होजाता है और उस दूध में रोगनाशक प्रभाव का प्रादुर्भाव होता है। यदि दूध को सोंठ, धनियाँ और एरण्ड की जड़ के साथ औंटावें तो उससे आमशूल का शमन होता है। परन्तु ध्यान रहे कि आयुर्वेद के मतानुसार आमवात रोग में दूध का सेवन नहीं कराना चाहिए।

शार्ङ्गधर के अनुसार यदि दूध को किसी औषधि द्रव्य के साथ पकाना हो तो उस द्रव्य से आठ गुना दूध और दूध से चौगुना जल लेना चाहिए। उन सब को एकत्र कर पकावें और दूध मात्र शेष रहने पर छानकर पी जाँय, तो जिस रोग की प्रतिषेधक औषधि के साथ उसे औंटाया गया होगा उस रोग की शान्ति शीघ्र सम्भव होती है।

यवागू और कृशरा आदि का विधान

चावलों को छः गुने पानी में पकाने से 'यवागू' सिद्ध होती है। यह एक प्रकार की पतली खिचड़ी है जो कि चावल और मूँग की दाल

के योग से भी बनाई जा सकती है। इसके पचने में सरलता रहती है, विशेष कर अपचन आदि की स्थिति में, जब कि कुछ खाने की इच्छा प्रतीत हो तब इसे देना चाहिए। कुछ लोग चावल, उड़द, मूँग और तिलों को मिलाकर भी खिचड़ी बनाते हैं। परन्तु, यह कुछ भारी हो जाती है।

दाल-चावल मिलाकर उक्त प्रकार से छः गुने जल के साथ पकाई जाने वाली यवागू (खिचड़ी) यदि गाढ़ी होजाती है तो उसे 'कृशरा' कहते हैं। यह विष्टम्भी, बलदायिनी, तृप्ति करने वाली और वातदोष का शमन करने वाली होती है। अतिसार के रोगी को भूख लगने पर, यदि इसे दिया जाय तो दस्त होने लगता है।

इसी का एक भेद 'विलेपी' है। यह चौगुने जल में पकाई जाने के कारण लपसी के समान गाढ़ी हो जाती है। यह हृदय के लिए अत्यन्त हितकर, मधुर, तृप्ति करने वाली, धातुओं को पुष्ट और प्रवृद्ध करने वाली तथा पित्तनाशक होती है। दुर्बल रोगी को अन्न देना उचित हो तो इसे दे सकते हैं।

चौदह भाग जल में एक भाग चावल डालकर पकाने से जो वस्तु सिद्ध होती है, वह 'पेया' कहलाती है। यह पतली और बहुत हल्की होती है। ज्वर के रोगी की जब पाचन शक्ति बहुत घट जाती है, फिर भी उसे कुछ भूख लगे तो पेया ही देनी चाहिए। धान की खील में छोटी पीपल और सोंठ डालकर चौदह गुने जल के साथ पकाकर ज्वर के उक्त रोगी को देने से वह अनायास ही पच जाती है। इसे 'लाज पेया' कहते हैं।

यदि गोखरू और कटेरी डालकर लाल शालि चावल की पेया उक्त प्रकार से बनाकर दी जाय तो उससे दोनों पसलियों का दर्द मूत्राशय में वेदना अथवा शिरशूल में शीघ्र लाभ होता है। यह 'रक्त-शालिपेया' ज्वर के शमन में भी सहायक होती है।

चावलों को बीन-साफ कर चौदह गुने पानी में पका कर सिद्ध करें और पकने पर माण्ड निकाल कर फेंक दें। यह माँड़-रहित चावल 'भात' कहलाते हैं। यह खाने में स्वादिष्ट, निर्दोष और हल्का होता है।

स्वच्छ चावलों को चौदह गुने जल के साथ पका कर नीचे उतार लें और उनके माँड़ को निकाल लें। इस माँड में सोंठ और सेंधा नमक डाल कर पीना चाहिए। यह चावल का माँड़ अन्न के पाचन और अग्नि के दीपन में बड़ा सहायक होता है। प्रदर रोग से पीड़ित स्त्रियों के लिए भी हितकर है।

अष्टगुण मण्ड

शार्ङ्गधर ने अष्टगुण मण्ड का विधान किया है, जो कि दीपन, पाचन, प्राणदाता, वस्ति शोधक, रक्तवर्द्धक, ज्वरनाशक एवं वात, पित्त, कफ का शामक है—

धान्यत्रिकटुसिन्धूत्थमुद्गतण्डुलयोजितः ।
भृष्टश्च हिंगुतैलाभ्यां स मण्डोऽष्टगुणः स्मृतः ।।

अर्थात्—धनियाँ, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च और छोटी पीपल) सेंधा नमक, मूँग और चावल का माँड़ (उक्त विधि से बनाकर) सिद्ध किया जाने पर 'अष्टगुण मण्ड कहलाता है।

इसकी सरल विधि यह है कि ८ तोले चावल और ४ तोले मूँग को चौदह गुने पानी के साथ पकावें और फिर इसमें सोंठ, मिर्च, पीपल, धनियाँ और सेंधव डाल कर ठीक प्रकार पकने पर उतार लें और माँड़ निकाल कर सुखोष्ण अथवा ठण्डा करके पीजाँय।

वाट्य मण्ड और लाजामण्ड

यव (जौ) कूट कर तुष-रहित एवं साफ कर लें और मन्द अग्नि पर भून लें, फिर चौदह गुने पानी में पका कर सिद्ध करें और छानकर सेवन करें। इस वाट्यमण्ड के सेवन से रक्तपित्त का शमन और कण्ठ-विकारों का उन्मूलन होता है। कफ-पित्त के प्रकोप को दूर करने में भी सहायक है।

इसी प्रकार धान की खीलों का मण्ड बनाया जाता है, उसे लाजा-मण्ड कहते हैं। इसके सेवन से अतिसार और ग्रहणी का अवरोध तथा कफ-पित्त का शमन होता है। इसे अधिक प्यास में देने से प्यास शान्त होती है और ज्वर का वेग भी कम होजाता है। विद्वानों ने इसे वद्धक और गाही माना है।

यूष (जूस) की विधि

सोंठ, पीपल आदि तीक्ष्ण वस्तुओं का यूष बनाना हो तो ३-३ माशे लेकर कल्प करें और सोलह गुने जल में पका कर छान लें अथवा सामान्य औषधियाँ डालनी हो तो वे चार तोले तक लेकर सोलह गुने जल में पकाई और फिर छानली जाती है। तत्पश्चात् उसमें मूँग आदि अन्न डाल कर आग पर चढ़ावें और सिद्ध होने पर छान लें। यह 'यूष' (जूस) कहलाता है। रोगी को पथ्य में दिया जाने वाला मूँग या मोंठ का पानी इसी प्रकार बनाया जाता है

साध्य रोगों की चिकित्सा

चिकित्सा शास्त्रियों ने रोगों को तीन अवस्था में विभाजित किया है—साध्य, कष्ट साध्य और असाध्य। आधुनिक पद्धतियों के अनुसार उन्हें प्रथम स्टेज, द्वितीय स्टेज या तृतीय स्टेज कहा जाता है। नवीन और पुराने के रूप में भी इनके दो भेद किये जाते हैं। नवीन रोग का लक्षण जब स्पष्ट होजाता है, तब उसमें स्वाभाविक अवस्था के विपरीत अधिक तेजी पाई जाती है, इसलिए उसे (Acute) कहते हैं और

पुराना रोग शरीर के विभिन्न अंगों में व्याप्त होकर उसे जीर्ण-शीर्ण बना देता है, इसलिए वह जीर्ण (Chronic) कहलाता है ।

इस प्रकरण में नवीन और साध्य रोगों के उपचार का वर्णन किया जाता है। यदि विधि और धैर्य से कार्य लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि लाभ न हो सके । साथ ही यह भी आवश्यक है कि मन को शान्त, प्रसन्न और एकाग्र रखा जाय । उसमें किसी प्रकार का क्रोधादि विकार अथवा चिन्ता आदि का समावेश न रहे ।

जुकाम के लक्षण

आयुर्वेद में इसे नासा रोग के अन्तर्गत प्रतिश्याय की संज्ञा दी गई है । यह वात, पित्त कफ के दोष से उत्पन्न होने के कारण तीन भेद वाला होता है । इनमें से वातज प्रतिश्याय में नासापुटों में मल भरा रहता है । नाक को अधिक सहलाया जाय तो कुछ पतला-सा स्राव होता है । कण्ठ, तालु और ओष्ठ शुष्क होजाते हैं, कण्ठ का ज्वर बैठ जाता है, बोल में खरखराहट उत्पन्न होजाती है, तथा कनपटियों में काँटे जैसी चुभन का अनुभव होता है ।

पैत्तिक प्रतिश्याय में पीले वर्ण का उष्ण स्राव होता है, जिससे शरीर में दुर्बलता और उष्णता आजाती है । सर्वांग में दाह का आभास होने से बेचैनी रहती है। प्यास लगने लगती है जो कि पानी पीने पर नहीं बुझ पाती । किसी-किसी को टेम्परेचर भी होजाता है ।

कफज प्रतिश्याय में नासिका से श्वेत कफ गिरता है, उसमें ठण्डापन होता है । शरीर में भारीपन और नेत्रों के नीचे फरफराहट रहती है। कण्ठ, तालु और शिर में खुजलाहट प्रतीत होती है और बार-बार स्राव होने के कारण बेचैनी बनी रहती है ।

आयुर्वेद में सान्निपातिक और रक्त प्रतिश्याय के रूप में दो अवस्थाएँ और मानी गई हैं । सान्निपातिक में वात, पित्त, कफ तीनों दोषों

का अथवा दो दोषों का समावेश रहता है। रक्तप्रतिश्याय में नाक से रक्त गिरता है, नेत्र लाल होजाते हैं और वक्षस्थल में दाह आदि की प्रतीति होती है। एक भेद पीनस और है, जिसमें नाक का पकना, शुष्क होना या दुर्गन्धि युक्त स्राव होना तथा गन्ध का ज्ञान न रहना आदि लक्षण होते हैं। जब यह रोग अधिक जीर्ण होजाता है तब कीड़े पड़ जाते हैं और माँस गलने लगता है।

जुकाम के उपचार

(१) शरीर को शुद्ध रखें, यम-नियम का पालन करें, मन को कामादि विकारों से रहित रखते हुए एकान्त-सेवन करें।

(२) कण्ठ में अँगुलियाँ डाल कर नित्य प्रातःकाल गले में जमे हुए कफ को मुख से बाहर निकालने का प्रयत्न करें। जीभ को भले प्रकार साफ कर दाँतों का मार्जन करें।

(३) नाक के दोनों पुटों में ठंडा पानी डाल कर कनिष्ठिका अँगुली से धीरे-धीरे साफ करें और तत्पश्चात् नाक में बार-बार पानी डालें और निकालें। इससे नासा मार्ग स्वच्छ होजाता है, जो कि जुकाम के शमन में सहायक है।

(४) पद्मासन लगा कर बैठें और धीरे-धीरे वायु खींच कर रोकें तथा नासिका को हथेली से धीरे-धीरे रगड़ें। इससे रुका हुआ जुकाम झड़ने लगता है।

(५) प्रथम वाम नासाछिद्र से श्वास खींच कर दक्षिण नासाछिद्र से निकाले और फिर दक्षिण छिद्र से खींच कर वाम छिद्र से निकाल दे। इस प्रकार व्युत्क्रम से बार-बार करने से नासा का शोधन होता है, जो कि जुकाम के शमन में अत्यन्त हितकर है।

(६) पित्तज जुकाम के साथ शिर में दर्द हो तो ठंडे जल में डुबो कर वस्त्र की पट्टी माथे पर रखें और कनपटियों पर शुद्ध स्वच्छ मिट्टी का हल्का लेप कर लें।

(६) कफज प्रतिश्याय में किसी परिश्रम वाले आसन का प्रयोग हितकर रहता है अथवा शीर्षासन या विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करे।

खाँसी के लक्षण

इसे आयुर्वेद में कास और ऐलोपैथी में Cough कहते हैं। यह भी वातज, पित्तज, कफज एवं मिश्रित दोषों के कारण अनेक प्रकार की मानी गई है। परन्तु आधुनिक चिकित्सक सूखी, तर, और कुकर खाँसी के रूप में प्रायः तीन भेद मानते हैं। आयुर्वेदज्ञों के अनुसार भी वातज, पित्तज, कफज के भेद से प्रमुख भेद तीन ही हैं, जिनके लक्षण यह बताये गए हैं—

वातज कास—सूखी होती है, बलगम नहीं निकलता, वेग अधिक रहता है, और शुष्क होने के कारण वक्षस्थल भी दूखने लगता है। स्वर क्षीण होजाता है, हृदय, कनपटी, पार्श्व, उदर और शिर में दर्द होता है तथा मुख भी सूखने लगता है।

पित्तज कास—शरीर में दाह करती और वर्ण में पीतता ला देती है। छाती में जलन के साथ मुख सूख जाता है, स्वाद कड़वा होजाता और प्यास अधिक लगती है। उपसर्ग बढ़ने पर हल्का ज्वर प्रतीत होता है। कण्ठ में दाह और शिर में दर्द भी हो सकता है।

कफज कास—शिर में अधिक वेदना उत्पन्न करती है। मुख और कण्ठ में कफ लिपटा रहता है, शरीर कफयुक्त और भारी रहता है, खुजली या सुरसुराहट का आभास होने लगता है तथा भोजन में अरुचि और मुख के स्वाद में परिवर्तन प्रतीत होता है।

दो प्रमुख भेद और माने गए हैं–उरक्षतज कास और क्षयज कास। उरक्षत से उत्पन्न कास में फेंफड़ों के फटने से उनमें घाव होजाता हैं और तब वायु से खाँसी उत्पन्न होजाती है। प्रथम शुष्क कास होती है,

फिर कण्ठ में पीड़ा और रक्त का स्राव होने लगता है। वक्षस्थल में सुई चुभने जैसी वेदना, ज्वर, स्वरभंग, तृषा और सब जोड़ों में वेदना होती है। यह रोग साध्य नहीं माना जाता।

क्षयज कास की उत्पत्ति का कारण वातादि दोषों का कुपित होकर क्षय के साथ खाँसी का उत्पन्न होना है। इसमें शुष्क खाँसी आती है और जोर लगाने पर कफ के साथ रक्त भी आजाता है। इसमें ज्वर, शूल और दाह भी रहता है। इसे भी साध्य नहीं मानते, इसलिए क्षय की चिकित्सा के साथ वर्णन करेंगे।

सूखी खाँसी में रोगी को अधिक कष्ट होता है और कण्ठ में बलगम के रुके रहने की प्रतीति सब समय बनी रहती है। यदि इसके उपचार में सावधानी नहीं वर्ती जाती तो क्षय, प्लुरिसी, मोतीज्वर, निमोनिया आदि कोई भी रोग उत्पन्न हो सकता है।

कुकर खाँसी में भी बड़ी बेचैनी रहती है और रोगी को लगता है कि उसका दम घुट रहा हो। जब तीव्र दौरा होता है तब फेंफड़ों के रक्तकोश फटने लगते हैं, जिससे मुख और नासिका से रक्त बहता है। यह रोग अवयस्कों को अधिक होता देखा जाता है।

खांसी के उपचार

(१) प्रातःकाल मूलशोधन कर्म करें और फिर स्थल वस्ति के प्रयोग से कोष्ठ को शुद्ध रखने का प्रयत्न करें।

(२) वज्रासन या सिंहासन का अभ्यास करें, साथ ही मूलबन्ध का प्रयोग हितकर रहता है। नभोमुद्रा भी कास को दूर करती है।

(३) दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाले प्राणायाम करें। अथवा पद्मासन से बैठकर काकी मुद्रा द्वारा मुख से श्वास खींचे और कुछ देर कण्ठ में चलाकर मुख के द्वारा ही बाहर निकाल दें।

(४) पश्चिमोत्तानासन भी हितकर है। अन्तर्धौति के अन्तर्गत वर्णित वह्निसार धौति का प्रयोग करें। मुख से श्वास लेकर नासिका से निकाल दें।

(५) शीत का मौसम हो तो ठण्ड से बचें। लाल मिर्च, खटाई या कण्ठ के लिए हानिप्रद पदार्थों को त्याग दें। सादा, सुपाच्य और पौष्टिक भोजन करें।

(६) उबाल कर ठंडा किया हुआ जल पीवें, इससे बैठा हुआ गला खुल जाता है। मुख में दो एक मखाने रखकर घुलने दें तो स्वरभंग और छाले दोनों में ही लाभ होता है।

(७) सूखी खाँसी अधिक परेशान करे तो सेंधे नमक की एक छोटी-सी डेली मुख में रख लें। मुलहठी या मुलहठी का सत्त भी हितकर रहता है।

(८) धुँए और धूलि से बचें। ऐसे समय में मुख और नाक पर रूमाल रख लें। स्वच्छ वायु का सेवन करें, चित्त को शान्त तथा कामादि विकारों से दूर रखें।

ज्वर के लक्षण

आयुर्वेद ने ज्वरों के पच्चीस प्रकार माने हैं दोषों की पृथक्ता और द्वन्द्वभेद से तीन-तीन प्रकार के होकर अनेक लक्षणों को धारण कर लेते हैं। प्रमुख भेद वातज, पित्तज और कफज हैं तथा उन के सम्मिश्रण से सन्निपातज स्वरूप होजाता है।

वातज ज्वर में वेग कभी कम रहता है, कभी अधिक। कण्ठ, ओष्ठ और मुख सूख जाते हैं, शरीर में कँपकँपी, रूखापन और दाह होता है। शिरशूल की प्रधानता युक्त सर्वांग में दर्द रहता है। हृदय में वेदना, उदरशूल के साथ अफरा, मलावरोध जँभाई आना और मुख का स्वाद बिगड़ जाना आदि लक्षण प्रमुख रूप से दिखाई देते हैं।

पित्तज में ज्वर का वेग अधिक रहता है, नींद नहीं आती, दस्त और वमन लग जाते हैं, मुख में कडुआपन के साथ दाह, मुख-पाक, नासिका-पाक, स्वेद की अधिकता, प्यास की अधिकता, नेत्र, त्वचा,

विष्ठा और मूत्र में पीलापन, प्रलाप, भ्रम, (चक्कर) और मूर्च्छा आदि प्रमुख लक्षण होते हैं।

कफज ज्वर में वेग कम रहता है, परन्तु शरीर में भारीपन, जकड़ापन और शीतलता का अनुभव होता है। हाथ-पाँव विशेष रूप से ठंडे प्रतीत होते हैं। आलस्य के साथ अंगों का टूटना, पेट पर भारीपन के साथ जी मिचलाना, अन्न का न पचना, वमन होना, उदरशूल, रोमांच, निद्रा की अधिकता, नेत्रों में श्वेतता तथा जुकाम और खाँसी की विद्यमानता रहती है।

दो दोषों के सम्मिलित रूप से कुपित होने पर दोनों के संयुक्त लक्षण मिलते हैं। त्रिदोषज को सन्निपातज्वर कहते हैं, जिसके लक्षण हैं—क्षण भर में ठण्ड लगना और क्षण भर में गरमी के साथ दाह प्रतीत होना। नेत्रों से अश्रुस्राव होना, ललोंई और फटे हुए दिखाई देना, कानों में शब्द-गुंजन की प्रतीति, शरीर के जोड़ों और शिर में दर्द कण्ठ में काँटे से पड़ने का आभास, जल तक के निगलने में कष्ट, सर्वांग में शिथिलता, अरुचि, भ्रम, प्रलाप, दाह, निद्रानाश, तृषा, कम्प आदि बहुत से विपरीत लक्षण देखे जाते हैं।

विषम ज्वर, मौक्तिक ज्वर, निमोनिया, चेचक, क्षय, इन्फ्लूएंजा आदि के रूप में भी अनेक प्रकार के ज्वर हैं। जिनका सामयिक उपचार आवश्यक होता है। असावधानी बरतने से रोग बढ़ता जाता है और तब उसकी जीर्ण, कष्ट साध्य या असाध्य संज्ञा हो जाती है। परन्तु इन सब प्रकार से ज्वरों को योग विधि से ठीक किया जा सकता है।

विविध ज्वरों के उपचार

(१) यम-नियम के पालन पूर्वक शरीर और चित्त को शुद्ध रखना आवश्यक है। आयुर्वेद इसमें लंघन का विधान करता है, उसके अनुसार अन्नादि का त्याग करके अधिक मात्रा में जल पीना चाहिए। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में मनुष्य में इतनी शक्ति-सामर्थ्य नहीं होती कि

वह पूर्ण रूप से लंघन कर सके, इसलिए अनुभवी चिकित्सक गोदुग्ध का सेवन कराते हैं। रोगी को उबला हुआ दूध बहुत थोड़ी मिश्री या चीनी मिलाकर थोड़ा-थोड़ा कई बार दिया जा सकता है।

(२) ज्वर के अनेक रोगियों को दूध नहीं पचता और वे उसे वमन के द्वारा निकाल देते हैं। ऐसी स्थिति में पाव भर दूध में पाव भर पानी डालकर उबालें और हो सके तो उबालते समय १ नग छोटी पीपल भी डाल दें। दूध के उबलने पर यह पीपल फेंक दी जाती है। परन्तु इससे दूध के दोष मिट जाते हैं।

(३) पीने का जल भी उबाल कर ठण्डा किया हुआ हो, क्योंकि कच्चा जल दूषित होने के कारण दोष वृद्धि में सहायक होता है।

(४) रोगी का कमरा, बिस्तर और वातावरण स्वच्छ रहना चाहिए। वह इतना एकान्त में हो कि परिचारक के अतिरिक्त अन्य लोगों की भीड़ भाड़ वहाँ न रहे। रोगी से अधिक बात-चीत भी न की जाय और उसे शान्त एवं प्रसन्न रहने दिया जाय।

(५) रोगी के लिए ज्वरावस्था में अधिक आराम देने वाला शवासन होता है। उसके प्रयोग से किसी प्रकार की थकान नहीं व्यापती और चित्त में शान्ति बनी रहती है।

(६) ज्वर की तीव्र अवस्था में तापमान अधिक बढ़ रहा हो तब किसी प्रकार की चिकित्सा करने से व्यवधान उपस्थित हो सकता है। इसलिए कोई औषधि आदि न दें, परन्तु आवश्यक हो तो माथे पर गीले वस्त्र की पट्टी रखनी चाहिए और तलुओं को काँसे के बर्तन अथवा सूखे वस्त्र से मलना चाहिए। ऐसा करने से तापमान कम हो जाता है। यदि कम न हो और गर्मी की ऋतु हो तो रबड़ की टोपी में बरफ भर कर उसे मस्तक पर रखने से सफलता मिल जाती है।

(७) ज्वर के वेग में रोगी का कोई एक नासापुट प्रबल श्वास से युक्त रहता है, उस अवस्था में श्वास-प्रवाह में परिवर्तन किया जाय तो

ज्वर की तीव्रता में कमी हो सकती है। उसकी विधि यह है कि जिस नासापुट से श्वास लिया जा रहा हो, उसे अँगुलियों से बन्द करके दूसरे नासापुट से श्वास लेना प्रारम्भ कर दें। परन्तु ज्वरावस्था में इस प्रकार तभी सम्भव है कि जबकि इसका अभ्यास पहले से हो। परन्तु, श्वास-क्रिया में परिवर्तन का एक सरल उपाय करवट बदल लेना भी है। यह एक मान्य सिद्धान्त है कि बाँयी करवट से लेटने पर दाँया स्वर चलता है और दाँयी करवट से लेटने पर बाँया स्वर।

(८) ज्वर उतरने पर भी उसके पुनः आक्रमण की आशंका होसकती है। विषम ज्वर (मलेरिया) में तो दूसरे दिन, तीसरे दिन या चौथे दिन की म्याद पर चढ़ने वाले ज्वर प्रसिद्ध हैं ही, अतः उनके पुनराक्रमण से बचने के लिए यह आवश्यकता है कि षट् कर्मों के साधन द्वारा शरीर की ठीक प्रकार से शुद्धि की जाय। उदर के शोधनार्थ स्थल वस्ति क्रिया करने से लाभ होता है और वारिसार अन्तर्धौति का प्रयोग किया जाय तो शरीरस्थ मल दूर होजाता है। इसमें मुख के द्वारा धीरे-धीरे जल पीते हुए कण्ठ तक भरे और उसे परिचालित करके अधोमार्ग से निकाल दे। ज्वर की आशंका रोकने के लिए इस धौति का प्रयोग करना श्रेष्ठ रहता है। साथ ही वातक्रम कपालभाति भी करनी चाहिए।

(९) ज्वर का वेग कम होने पर तुलसीपत्र के रस में काली मिर्च डाल कर देने से मलेरिया में लाभ होता है। अथवा तुलसीपत्रों को चाय के समान बना कर देना चाहिए।

(१०) ज्वर उतरने पर भी पथ्य का ध्यान रखें। फलों का रस, दूध के साथ बार्ली या साबूदाने का जल, साबूदाने का पापड़ आदि हल्की चीजों का सेवन करें और ब्रह्मचर्य का पालन करें।

(११) ज्वर का वेग कम होने पर सहित कुम्भक का अभ्यास करने से बहुत लाभ होता है। इसकी विधि पिछले पृष्ठों में लिखी जा चुकी है।

अतिसार के लक्षण

वातातिसार, पित्तातिसार, कफातिसार, त्रिदोषातिसार, शोकातिसार आमातिसार और भयातिसार के भेद से आयुर्वेद ने सात प्रकार के अतिसारों का वर्णन किया है, उनमें से प्रथम का लक्षण बताया है कि जिसमें लाल, फेनयुक्त, रूक्ष और आँवयुक्त दस्त बार-बार कष्ट के साथ थोड़ा-थोड़ा हो और गुदा से शब्द हो तो वह वातातिसार समझना चाहिए।

पीले, नीले और कुछ ललोंई युक्त दस्तों के साथ तृष्णा, मूर्च्छा, दाह और पक जाने के समान गुदा में पीड़ा हो तो उसे पित्तातिसार समझो। कफातिसार में श्वेत वर्ण का, चिकना, कफयुक्त, दुर्गन्धित और ठंडा मल उतरता है तथा शरीर में रोमांच होने लगता है।

त्रिदोषातिसार में सूअर की चर्बी और मांस के धोवन के समान पतला दस्त होता है तथा उक्त तीनों दोषों के लक्षण दिखाई देते हैं। चिकित्सकों ने इसे कष्ट साध्य माना है। स्त्री, पुत्र, बान्धवादि की मृत्यु के शोक से भी दस्त लग जाते हैं। उसका कारण शोक में भोजन का कम होजाना और रोने के कारण वाष्प की उष्णता का जठराग्नि को मन्द कर कोष्ठ में पहुँचना और रक्त को क्षुभित कर देना होता है, जिससे वह चिरमिठी के समान लाल रक्त बार-बार दस्त के साथ निकलता है, उसके साथ मल और दुर्गन्ध हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। इसे भी कष्टसाध्य मानते हैं।

अन्न का ठीक प्रकार से परिपाक न होने से कुपित हुए वातादि दोष कोष्ठ में पहुँच कर रक्तादि धातुओं और मलों को बार-बार बाहर निकालते हैं, जिससे अनेक वर्ण के शूलयुक्त दस्त होते हैं। इसे आमातिसार कहते हैं। सातवें भयातिसार के लक्षण शोकातिसार के ही समान समझने चाहिए।

अतिसार के उपचार

(१) गरिष्ठ भोजन का परित्याग करें, दूध पीवें तो उबाल कर ठण्डा करने के पश्चात् । दही को वस्त्र में बाँधकर खूंटी पर टाँग दें, जिससे कि उसका पानी निकल कर मक्खन के समान जल-रहित हो जाय । उसमें सैंधानमक, काली मिर्च और जीरा मिला कर सेवन करें । इसे खिचड़ी के साथ भी ले सकते हैं ।

(२) कूर्मासन लगा तालबद्ध प्राणायाम का प्रयोग करें । चित्त को निश्चल कर इष्ट लक्ष्य में लगा दें तो सब प्रकार के अतिसारों में लाभ होना सम्भव है ।

(३) मूलबन्ध के द्वारा अधोगति वाले अपान वायु को गुदाकुञ्चन करते हुए ऊपर की ओर आकर्षित करें । इस प्रकार ऊर्ध्वगामी हुआ वायु सब प्रकार के अतिसारी को रोकने में सहायक होता है ।

(४) मूलबन्ध के साथ ही पूरक करके जालन्धर बन्ध लगावें और फिर रेचक करें तब जालन्धर बन्ध को खोल कर उड्डीयान बन्ध लगा लें । इसके लिए वज्रासन लगा कर पाँवों को हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ना और टखने के रखने के स्थान पर कन्द स्थान को दबाना चाहिए । उदर को ऊपर की ओर खींचे तथा हृदय और कण्ठ को भी तनाव देकर आकर्षित करे । इस विधि से प्राण क्रमशः उदर की सन्धियों में प्रविष्ट होकर सब प्रकार के उदर रोगों को दूर करता है, साथ ही सहित कुम्भक का अभ्यास करना उचित है ।

(५) अनेक विषशेज्ञ मानते हैं कि प्राणायाम के अभ्यास से दशों वायु वश में हो जाते हैं तब उनकी गति नियमित होकर रक्त-संचार को भी नियमित बना देती है । उससे किसी दोष के कुपित होने और रक्त के अनियमित रूप से स्थान च्युत होने का भय नहीं रहता । इसके फल स्वरूप अतिसार के साथ रक्त का अंश नहीं जाता और उचित आसनादि के प्रयोग से कच्चे मल का गिरना भी रुक जाता है । इसलिए गुह्य स्थान के

संकोच वाले आसनों में से कोई अनुकूल आसन छाँट कर उसका अभ्यास करे और योगशास्त्रों के 'अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः' वाले उपदेश के अनुसार चले, जिसका अर्थ है कि 'अपान और प्राण का ऐक्य होने से मल-मूत्र का क्षय होता है।' इस प्रकार बन्धों के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती और सब उदर रोगों का शमन होता है।

(६) अतिसार-रोगी को रोग के कारणों को भी दूर करना चाहिए। शोक और भय का त्याग आवश्यक है। दस्तों के साथ उदर में शूल हो तो उस स्थान को बोतल या थैली में गर्म जल भर कर उससे सेंकना चाहिए। घृत में हींग मिला कर नाभि पर लेप करने से अफरायुक्त उदर शूल मिट जाता है।

(७) दस्त के साथ कच्चा आँव गिरता हो तो उसमें हरी सोंफ का जल के साथ सेवन करना हितकर रहता है। अथवा बेलगिरि के रस या मुरब्वे के सेवन के भी आमातिसार का दूर होजाना सम्भव है। बेलगिरी के रस में शहद मिला कर पीना चाहिए।

मलावरोध (कब्ज) के लक्षण

गरिष्ठ भोजन करने और स्वास्थ्य के नियमों को न पालने के फल स्वरूप मल रुक जाता है, जिसे कोष्ठबद्धता या कब्ज भी कहते हैं। जब तक इसकी विद्यमानता रहती है, तब तक शरीर में भारीपन बेचैनी, मिचली, उदरशूल, अफरा आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

कब्ज को अनुभवी व्यक्तियों ने परोक्ष रूप में सभी रोगों की उत्पत्ति-कर्त्ता माना है। इसलिए उसका दूर होना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी उत्पत्ति भी वातादि दोषों के कुपित होने से ही मानी जाती है और प्राणायाम से इसे दूर करने में बहुत सहायता मिलती है।

कब्ज को प्रमुख रूप से नवीन और जीर्ण के भेद से दो प्रकारों में बाँट सकते हैं। नवीन कब्ज सामयिक और लाक्षणिक उपचारों से शीघ्र

दूर हो सकता है, जबकि जीर्ण कब्ज का मिटना बहुत कठिन होता है। किसी-किसी को तो यह बीमारी जीवन-पर्यन्त परेशान किये रहती है।

परन्तु, कष्ट साध्य या असाध्य होने पर भी यह खतरनाक सिद्ध नहीं होता। कुछ लोगों के मत में तो शरीर में मल रहने से ताकत बनी रहती है। इसके विपरीत, अनेक विद्वानों की राय है कि मल के शोधन से शरीर स्वस्थ रहता और आयु बढ़ती है।

कब्ज दूर करने के उपाय

(१) यम-नियमों के यथाशक्ति पालन से शरीरस्थ मल स्थिर नहीं रहता और वह समय-समय पर स्वतः निकलता रहता है। इस कारण कब्ज हो ही नहीं पाता।

(२) पश्चिमतान या पश्चिमोत्तानासन का अभ्यास करें। यह आसन प्राणवायु को पश्चिम की ओर बहने वाला कर देता है, इससे मल का शोधन और जठराग्नि का प्रवर्तन होकर उदरस्थ कृशता भी दूर होजाती है।

(३) पद्मासन लगा कर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे और प्राणवायु को नीचे की ओर करे। यह अभ्यास से सिद्ध होने वाला प्राणायाम है, जो कि मूल के शोधन में भी हितकर है।

(४) वातसार या अग्निसार अन्तर्धौति का प्रयोग करें। लाभ न होने पर दण्डधौति या वमनधौति से भी कार्य लिया जा सकता है। मूलशोधन-क्रिया द्वारा गुह्यद्वार का जलयोग से प्रक्षालन करे तो 'वारयेत् कोष्ठ-काठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्' अर्थात् 'कोष्ठकाठिन्य (मल की शुष्कता और मलावरोध) एवं आमाजीर्ण का भी निवारण होजाता है।' यह प्रक्षालन क्रिया 'मूलशोधन' के नाम से धौति कर्म की अन्तिम क्रिया है।

(५) सामयिक उपचारों में रात्रि में शयन समय छोटी हरड़ और सोंफ का चूर्ण गर्म जल या गर्म दूध के साथ लेना चाहिए। अथवा गर्म दूध के साथ गुलकन्द के सेवन से भी लाभ होता है।

(६) रात्रि के समय गर्म दूध में शहद मिला कर त्रिफला के चूर्ण का नित्य निरन्तर सेवन करें। इससे पुराना कब्ज भी दूर हो सकता है।

(७) शुद्ध स्वच्छ मिट्टी को जल में भिगो कर मुलायम वस्त्र पर लगावें और उदर पर बांध लें। इससे उदरशूल और मलावरोध में लाभ होता है।

पीलिया के लक्षण

पीलिया को आयुर्वेद में पाण्डुरोग कहा जाता है। इसमें शरीर के सभी अंग तथा मल-मूत्र भी पीला पड़ जाता है। इसे वातादि दोषों से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार का मानते हैं चौथा भेद त्रिदोषज और पाँचवाँ मृत्तिकाजन्य कहा गया है। इनमें से वातज पाण्डु में त्वचा, नेत्र और मूत्र आदि में रूक्षता एवं ललोंई युक्त काला वर्ण होजाता है, शरीर में कम्प, चपका, अफरा और चित्तभ्रम जैसे लक्षण होते हैं।

पित्तज पाण्डु में नेत्र और मल मूत्र पीले होजाते हैं। शरीर में दाह और तृषा के साथ ज्वर होकर पीलापन छा जाता है और मल पतला उतरता है। कफज पाण्डु में शरीर में भारीपन, आलस्य, तन्द्रा, शोथ आदि के साथ कफ गिरता है। नेत्र, मुख, त्वचा और मूत्र सफेद होजाते हैं।

त्रिदोषज में तीनों दोषों की विकृति के लक्षण प्रतीत होते हैं। जी मिचलाना, अरुचि, वमन, तृषा, चित्त की व्याकुलता, ज्वर आदि के साथ शरीर में शोथ और क्षीणता उत्पन्न होजाती है तथा इन्द्रियों की विषय-ग्रहण वाली सामर्थ्य का भी नाश होजाता है। इस लक्षण को असाध्य माना गया है।

मृत्तिका जन्य पाण्डु की उत्पत्ति मिट्टी खाने से होती है। कषैली मिट्टी के खाने से वात प्रकुपित होता है। खारी मिट्टी से पित्त और मीठी मिट्टी से कफ दूषित होजाता है। इस प्रकार वातादि के दूषण से रस

आदि में रूक्षता उत्पन्न होती है, जो कि खाये अन्न को भी रूक्ष कर देती है।

कच्ची मिट्टी खाने से नाड़ियों के स्रोत भर कर रुक जाते हैं, जिससे बल, वीर्य, ओज आदि का नाश और रक्त का भी क्षय हो जाता है तथा जठराग्नि के नष्ट होने से पीलिया रोग की उत्पत्ति होजाती है। इसमें नेत्र के पलक, भौंह, कपोल, नाभि, उपस्थ एवं पाँव आदि अवयव सूज जाते हैं। उदर में कृमि उत्पन्न होते तथा रुधिर और कफ युक्त दस्त होता है।

पाण्डु में या तो कोष्ठबद्धता का स्थायित्व होजाता है अथवा दस्त लग जाते हैं। जिह्वा के स्वाद में कड़वापन उत्पन्न हो जाने से कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जब पाण्डु रोग अधिक बढ़ जाता है और बहुत दिनों तक काबू में नहीं आता तब वह उसकी कृच्छ्रसाध्य या असाध्य अवस्था हो जाती है और उस समय उसे कामला, कुम्भकामला एवं हलीमक आदि नामों से कहा जाता है।

पाण्डु रोग के उपचार

(१) शरीर की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पिछले पृष्ठों में कहे हुए मल-शोधन वाले उपायों को करते हुए चित्त को दृढ़ बनावें और जब तक रोग की निवृत्ति न हो जाय पथ्य का पूर्ण रूप से निर्वाह करें।

(२) कोष्ठकाठिन्य हो तो मूलशोधन और वमन धौति का प्रयोग करें। ज्वर न हो तो जलवस्ति का प्रयोग भी करना चाहिए। फिर पद्मासन लगाकर सहित कुम्भक का अभ्यास किया जाय तो रोग का शमन शीघ्र होता है।

(३) यदि अतिसार हो तो भद्रासन के साथ जालन्धर बन्ध करें। यह 'सर्वव्याधिविनाशक' अभ्यास है। ज्वर हो तो स्थल वस्ति का

अभ्यास हितकर रहेगा। परन्तु स्थल वस्ति पश्चिमोत्तान आसन से करनी चाहिए।

(४) अफरा होने की अवस्था में पद्मासन से बैठकर पूरक द्वारा श्वास खींचे और उसे भीतर रोककर उदर पर धीरे-धीरे हाथ फेरें। इस प्रकार की मालिश से अफरा में अवश्य लाभ होता है।

(५) प्रातः काल शुद्ध ठण्डे जल से स्नान करें। चित्त को भी स्वच्छ रखते हुए पद्मासन लगावें और सहज कुम्भक का अभ्यास करें। मध्याह्न में जलवस्ति अथवा स्नान के साथ अग्निसार अन्तर्धौति का प्रयोग करें। इस प्रकार के अभ्यास सायंकाल के समय भी किये जा सकते हैं।

अजीर्ण के लक्षण

आयुर्वेद ने दोषानुसार तीन प्रकार के अजीर्ण माने हैं—वात से उत्पन्न विष्टब्धाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण और कफ से आमाजीर्ण की उत्पत्ति होती है। कुछ आचार्य इसके अनेक भेद मानते हैं, परन्तु प्रमुख भेद यही हैं।

विष्टब्धाजीर्ण में उदर बहुत फूलता और शूल होता है। मल न उतरना, अधोवायु का अवरुद्ध होना, शरीर का जकड़ जाना तथा मोह और अंग वेदना से बेचैनी रहना आदि वातरोग के अनेक लक्षण दिखाई देते हैं।

विदग्धाजीर्ण में तृषा, चक्कर, मूर्च्छा, दाह, स्वेद, एवं धुँए के साथ खट्टी डकारें आदि पित्तजनित अनेक व्याधियों की प्रतीति होती है। अन्न से अरुचि तथा पेट भरा-भरा जैसा लगता है। भारीपन के साथ हल्का हल्का उदरशूल होता रहता है।

आमाजीर्ण में उदर में अधिक भारीपन प्रतीत होता है। जी मिचलाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वमन हो जायगी, परन्तु होती नहीं, जैसा पदार्थ खाया जाता है, वैसी ही डकार आती है। मुख पर

भारीपन दिखाई देता है तथा नेत्रों और कपोलों पर सूजन आजाती है। यदि तत्काल उचित उपचार नहीं होता तो उदरादि अंग भी शोथयुक्त हो जाते हैं।

अजीर्ण का एक अन्य भेद है विषाजीर्ण या रसशेषाजीर्ण। 'रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धि गौरवैः' अर्थात् 'रसशेषाजीर्ण में अन्न से अरुचि हृदय की अशुद्धि (मिचली आदि) और शरीर में भारीपन होता है। सब प्रकार के अजीर्ण रोगों में मूर्च्छा, प्रलाप, चक्कर, वमन, ग्लानि आदि उपद्रव हो सकते हैं।

अजीर्ण के उपचार

(१) सुपच अन्न का आहार आवश्यक है। यथा सम्भव फलों के रस का सेवन अधिक करना चाहिए। गरिष्ठ, तले हुए, मिर्च-मसालों से युक्त पदार्थों का सेवन न करें। यम-नियमों का पालन करते रहें।

(२) स्वस्तिकासन लगा कर बैठें। पूरक द्वारा वायु खींच कर भरने के बजाय रेचक द्वारा उदर में स्थित सहज वायु को बाहर निकालने का प्रयत्न करें। उड्डीयान बन्ध लगा कर आँतों को इस प्रकार खींचे कि वह दण्डाकार में होजाँय। दोनों हाथों को अपने-अपने ओर के घुटनों पर रख लें और उदर को दोनों ओर से दबाते हुए कुम्भक करें अर्थात् उदर की जो वायु निकाली गई थी, अब उसे वहीं रोकें और रेचक द्वारा शनैः शनैः छोड़ दें। परन्तु यह क्रिया अभ्यास द्वारा सिद्ध होती है और सिद्ध होने पर सब प्रकार के अजीर्णों को दूर करती है।

(३) महामुद्रा के अभ्यास से भी अजीर्ण रोग नष्ट होजाता है। सब प्रकार के उदर रोग, उदावर्त, गुल्म, क्षय एवं विष-विकार का भी शमन करती है।

(४) पद्मासन लगाकर बाँये नासापुट से वायु खींच कर यथाशक्ति कुम्भक करें और फिर दाँये नासापुट से रेचक द्वारा वायु को निकाल दें।

इसमें कुम्भक के समय श्वेत वर्ण के चन्द्रमा का ध्यान करते हुए चित्त को एकाग्र रखना चाहिए। फिर दांये नासापुट से वायु खींच कर कुम्भक द्वारा भीतर रोकें और नाभिमण्डल में अग्नि पुंज के समान प्रकाशमान सूर्य में चित्त लगावें और फिर बाँये नासापुट से वायु का रेचन करें। यह सूर्यांग प्राणायाम सब प्रकार के अजीर्णादि उदर रोगों को दूर करता है।

(५) अजीर्ण रोग में यदि गैस उठती हो, खट्टी डकारें आतीहों, उदर के भारीपन से बेचैनी होती हो चन्द्रभेदी प्राणायाम करना चाहिए। इसमें दाँये नासापुट को दाँये हाथ के अँगूठे से बन्द करके बाँये नासापुट से वायु को खींच कर यथाशक्ति कुम्भक किया जाता और फिर धीरे-धीरे दाँये नासापुट से वायु को बाहर निकाल दिया जाता है। इसका अभ्यास कई बार करना चाहिए।

(६) अजीर्णादि उदर रोगों में उज्जायी कुम्भक भी अत्यन्त लाभकारी होता है। इससे नाड़ी सम्बन्धी, धातु सम्बन्धी और कफ-दोष से सम्बन्धी सभी विकारों का शमन होता है। इसमें मुख को बन्द करके वायु को दोनों नासापुटों से धीरे-धीरे इस प्रकार खींचें, जिससे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त भर जाय। फिर कुम्भक करके बाँये नासापुट से वायु को निकाल दे। इसके विषय में योगशास्त्रों में कहा है कि 'न भवेत् कफ रोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्' अर्थात् 'इसके करने से कफ के रोग, दुष्ट वायु और अजीर्णादि रोग नहीं होते।

(७) पूरक आसनों और मुद्राओं का अभ्यास करने से अशातीत लाभ होता है। अग्निसार धौति एवं वस्ति क्रिया भी नियमानुसार करनी चाहिए। सर्वांगासन इसमें अत्यन्त हितकर रहता है। उसे २-३ मिनट तक कर सकते हैं।

(८) अन्न को पचाने के लिए सूर्य स्वर का चालन उपयोगी है। बाँये नासापुट में चलने वाला स्वर चन्द्रस्वर होता है और दाँये नासापुट में सूर्य स्वर। चन्द्र स्वर को बदलने के लिए बाँयी करवट से लेट जाँय तो सूर्य स्वर चलने लगेगा।

(९) अजीर्ण की अवस्था में भूख नहीं लगती, इसलिए भूख लगने पर ही भोजन करें। मध्याह्न १२ बजे तक भोजन न करने से लाभ रहता है। सायं कालीन भोजन रात्रि के ७-८ बजे करना चाहिए। प्रातः कालीन जल-पान को त्याग दिया जाय।

(१०) अजीर्ण के साथ पतले दस्त हों तो भोजन में दाल-चावल के मिश्रण से बनी खिचड़ी का सेवन हितकर रहता है। भोजन के तुरन्त बाद जल न पीवें, वरन् आधे घण्टे के बाद पीना चाहिए। औषधि लेना आवश्यक ही हो तो आयुर्वेदिक गंगाधर चूर्ण या लवण भास्कर चूर्ण का सेवन करना चाहिए। मट्ठा का सेवन भी लाभकारी है।

(११) यदि कोष्ठवद्धता, अफरा या शूल आदि हो तो भोजन में दलिया, दाल, रोटी, हरी सब्जी, फल और एक उबाल का दूध प्रयोग में लावें। दाल में हिंग्वाष्टक चूर्ण मिला लें। टमाटर का सूप बना कर लें अथवा अदरक और नीबू का अधिक सेवन करें।

(१२) अजीर्ण में उपवास सब से अच्छी दवा है। साथ ही सुगम आसन और हल्के प्राणायाम करें। आवश्यक होने पर दुपहर के २ बजे फलों का रस सेवन करें।

अम्ल रोग और उसके लक्षण

खाये-पिये अन्न का ठीक प्रकार से परिपाक न होने से अम्ल रोग की उत्पत्ति होती है। इसमें खट्टी डकारें आना, वक्षस्थल और कण्ठ में दाह होना, गैस उठना और मुख का स्वाद बदल जाना आदि लक्षण होते हैं। वैसे यह रोग अजीर्ण के अन्तर्गत ही है, फिर भी चिकित्सकों ने लक्षण भेद के अनुसार इसका पृथक् नाम दे दिया है।

बिना भूख के भोजन करने अथवा भोजन के पश्चात् पुनः खा लेने या अधिक आहार करने से उनके परिपाक की क्षमता नहीं रहती और वह अपरिपक्व आहार आँतों में ही सड़ने लगता है, इस कारण पित्त आदि के योग से उसमें अम्ल की अधिकता उत्पन्न होने लगती है और

वही अम्लता विषरूप होकर अनेक प्रकार के विकारों को प्रकट कर देती है ।

अम्ल रोग के उपचार

(१) अजीर्ण रोग में बताये गए उपचार नं. १,५,६ और १२ का प्रयोग इसमें भी अत्यन्त उपयोगी है ।

(२) पद्मासन लगा कर बैठें और शरीर में विद्यमान वायु का चालन कर चन्द्र नाड़ी (बाँये नासापुट) से निकाल दें और बाह्य कुम्भक में श्रम प्रतीत होने लगे तब सूर्य नाड़ी (दाँये नासापुट) से श्वास खींचते हुए पूरक करें। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त शेष तीनों अँगुलियों से नासिका को बीच से दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर कुम्भक करें और फिर वायु को बाँये नासापुट से निकाल दें। योग ग्रन्थों में इस प्रकार के कुम्भक को 'भस्त्रिका' संज्ञक कहा है। इसमें लोहार द्वारा धोंकनी चलाने के समान वायु का बार-बार रेचन किया जाता है ।

(३) प्रातःकाल जल वस्ति का प्रयोग करें। नौलिकर्म भी अत्यन्त हितकर रहता है। मूलबन्ध के साथ सहज कुम्भक किये जाने से भी लाभ होता है ।

(४) अजीर्ण की अवस्था में मक्खन, घृत, तले हुए अन्न, खोए की मिठाई, माँस-मछली आदि का सेवन अत्यन्त हानिप्रद होता है । इसलिए इनका त्याग ही उचित है ।

हैजा (विषूचिका) के लक्षण

आयुर्वेद ने अलसक, विलम्बिका और विषूचिका की उत्पत्ति अजीर्ण से ही मानी है। अलसक में वायु से कोखों का तनना, पेट में गुड़गुड़ का शब्द, वायु का ऊपर की ओर उठ कर कण्ठ तक पहुँचना, मलावरोध, वातावरोध, प्यासाधिक्य और डकारों की अधिकता से बेचैनी आदि लक्षण होते हैं। कुछ लोग इसे हैजे के पूर्व रूप भी मानते हैं।

विलम्बिका में कफ और वात से दूषित हुआ अन्न न तो ऊपर होता है, न नीचे ही जाता है। रुके हुए आम के स्थान पर वेदना होना भी इसका एक प्रमुख लक्षण है। आचार्यों के मत में यह रोग कष्टसाध्य या दु:साध्य है।

विषूचिका में मूर्च्छा, वमन, तृषा, शूल, अतिसार, भ्रम, हाथ-पांवों में ऐंठन, जँभाई आना, दाह, शरीर का वर्ण बदलना, कम्प, हृदय और शिर में वेदना आदि लक्षण होते हैं। 'सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिल:, यस्याजीर्णेन सा वैद्यैर्विषूचीति निगद्यते' अर्थात् 'जिसका वायु अजीर्ण से कुपित होकर शरीर को सुई के समान कोंचता रहे, उसी को वैद्यगण विषूची कहते हैं।' इसके लक्षणों में मूत्र का अवरोध और श्वेत पतले दस्तों का बार-बार होना भी प्रमुख हैं।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि हैजा और विषूचिका के लक्षणों में समानता है। हैजा को पाश्चात्य भाषा में 'कॉलेरा' कहा जाता है। इसकी गणना जठराग्नि सम्बन्धी विकारों में भी है, क्योंकि इसके प्राकट्य में अजीर्ण को ही प्रमुख कारण माना गया है। नीचे जो उपचार लिखा जाता है, वह आंशिक भेद से अलसक और विलम्बिका में भी हितकर हो सकता है।

हैजा के उपचार

(१) जालन्धर बन्ध के साथ सहित कुम्भक का अभ्यास करें। चित्त में दृढ़ता लाकर ऐसा विश्वास करें कि विषूचिका के उपसर्ग नष्ट हो रहे हैं। कुम्भक की अवस्था में नाभि से नीचे के भाग को सहलाना और फिर प्रश्वास छोड़ देना चाहिए।

(२) सहज वस्ति का प्रयोग करें। पद्मासन लगा कर स्थिर चित्त से उड्डीयान बन्ध करें। दाँये नासापुट से श्वास खींचें और उसे कुम्भक किये बिना ही बाँये नासापुट से निकाल दें।

(३) शवासन साध कर शान्ति से लेट जाँय। पूरक द्वारा श्वांस खींचकर उदर को दाँये हाथ से मलें और फिर प्रश्वास को वाहर निकाल दें। यह क्रिया ८-१० बार करें।

(४) औषधि में पलाण्डु (प्याज) का रस बहुत लाभ करता है। इसमें स्वल्प मात्रा में नमक, काली मिर्च डाल कर घण्टे-घंटे भर के अन्तर से दें और प्यास लगे तो सादा जल के स्थान पर अमृतधारा मिश्रित जल थोड़ा-थोड़ा पिलावें। इस उपचार के साथ भी रोगी को शवासन से पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है।

(५) आराम होने के उपरान्त भूख लगने पर खिचड़ी या दलिया स्वल्प मात्रा में दे सकते हैं। फलों के रस का प्रयोग भी हानिकारक नहीं होता।

इस प्रकार यहाँ नवीन और साध्य रोगों के उपचार बताए गये। इनमें आवश्यक नहीं कि सभी विधियों को एक साथ किया जाय, वरन् उचित यह है कि जो विधि सरल और रोगी के बलाबल के अनुसार अनुकूल प्रतीत हो, उसका व्यवहार करना चाहिए। उपचारों में यत्र तत्र जिन आयुर्वेदिक औषधियों का वर्णन हुआ है, उनका सेवन षट्कर्म, आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम आदि के साथ भी किया जा सकता है।

आसन और बन्धादि के अभ्यास अनुभव से अधिक फलदायक होते हैं तथा विना अनुभव उनके करने में भी कठिनाई होती है। इसलिए यथा संभव किसी अनुभवी व्यक्ति से उनका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि किसी कारणवश ऐसा करना सम्भव न हो तो सरल विधि वाले सुखसाध्य प्रयोगों को ही करें अन्यथा लाभ के बदले हानि की ही सम्भावना हो सकती है।

अगले प्रकरण में जीर्ण, कष्ट साध्य और असाध्य रोगों के उपचारों पर प्रकाश डाला जायगा। यदि उनकी विधियों का सही रूप में पालन किया जा सके तो कोई कारण नहीं कि रोगों के निवारण में सफलता

न मिले। क्योंकि योग की क्रियाओं में औषधादि उपचारों से बहुत बढ़ी चढ़ी शक्ति-सामर्थ्य का समावेश रहता है। इसलिए विश्वास पूर्वक उन्हें करना चाहिए, जिससे कि अपेक्षित लाभ प्राप्त किया जा सके।

वमन (छर्दि) के लक्षण

पृथक्-पृथक् या मिल कर दूषित हुए वातादि दोषों के प्रकोप से पाँच प्रकार के छर्दि रोग माने हैं, जिसे वमन, उल्टी या रद्द भी कहते हैं। शार्ङ्गधर ने इसे सात प्रकार की माना है—वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, कृमिज यह पाँच और घृणा से तथा सातवीं स्त्रियों के गर्भाधान से होना मानते हैं।

वातज छर्दि में हृदय और पसलियों में पीड़ा, मुख का सूखना, शिर और नाभि में दर्द, कास, स्वरभंग, कोंचने जैसी पीड़ा और उबाकी के साथ फेनयुक्त रुक-रुक कर काले-से रङ्ग का कसैला वमन होता है, परन्तु इसमें अधिक वेग और कष्ट से वमन होता है।

पित्त की छर्दि में प्यास अधिक लगती है, मुख सूख जाता है, तालु और नेत्रों में दाह के साथ अन्धकार-सा होजाता है, चक्कर आते हैं और बेचैनी होती है। अति उष्ण, पीला, हरा, कड़ुवा तथा धुँए जैसा जलता हुआ वमन होता है।

कफज छर्दि में मुख में मिठास, कफ का स्राव, भारीपन, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा एवं चिकना, गाढ़ा, मीठा कफ उलटता है। इस समय थोड़ी पीड़ा भी होती है और रोम खड़े होजाते हैं।

त्रिदोषज या सन्निपातज वमन में शूल, अजीर्ण, अरुचि, दाह, प्यास, श्वास, मोह आदि के साथ नमकीन, खट्टी, नीली, गाढ़ी, गर्म और लाल रङ्ग की प्रबल वमन होती है।

कृमियों के कारण उत्पन्न होने वाली वमन में जी मिचलाता है और शूल होता है। इसमें कृमि रोगों के समान तथा हृदय-रोग के समान अनेक लक्षण दिखाई देते हैं।

शेष भेदों के लक्षण अन्य विद्वानों द्वारा वर्णित भेदों में समाविष्ट हैं। उनके अनुसार वीभत्सजा, दौहृदजा, आमजा, असात्म्यजा, और कृमिजा के नाम से अनेक छर्दि भेद हैं, जिनके लक्षण नाम के अनुरूप ही समझने चाहिए। इनमें आमजा की उत्पत्ति उदरस्थ विकारों और आम आदि के कारण होती है। इसका शमन आम-दोष के उपचारों से हो सकता है।

यद्यपि वमन का उल्लेख पृथक् रूप से हुआ है, तथापि इसे अन्य रोगों का उपसर्ग मात्र ही समझना चाहिए। अधिक भोजन से अजीर्ण और अग्निमांद्यादि विकारों की उत्पत्ति होती है, उससे भी अरुचि के साथ वमन होने लगती हैं। स्नायु मण्डल, यकृत, जरायु, कृमि आदि के दोष एवं शारीरिक दुर्बलता से भी इसका प्रारम्भ होजाता है। गर्भावस्था में भी वमन होजाती हैं, परन्तु मृगी आदि मस्तिष्क रोगों में वमन का निरन्तर होना कोई अच्छा लक्षण नहीं है।

वमन (छर्दि) के उपचार

(१) अग्निसार या बहिष्कृत धौति करनी चाहिए। दन्तमूल और जिह्वामूल धौति को नित्य किया जाय। इनके स्थान पर दाँतुन आदि का व्यवहार करने से मुख स्वच्छ रहता है। गले में अँगुलियाँ डाल कर वहाँ के जमे हुए व्यर्थ कफादि को निकाल देना भी एक आवश्यक कर्म है। जिह्वामूल धौति का उद्देश्य यही है।

(२) आवश्यकतानुसार वमन धौति करते रहने से वमन रोग उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह क्रिया दैनिक रूप से नहीं, कभी-कभी की जा सकती है।

(३) जलवस्ति या स्थलवस्ति में से किसी एक को करने से गुल्म, प्लीहा, उदर, एवं कोष्ठ के दोष नष्ट होजाते हैं। इस कारण वमन का भी शमन होजाता है। क्योंकि कोष्ठ शुद्ध होने से छर्दि रोग की उत्पत्ति ही नहीं होती।

(४) व्युत्क्रम कपालभाति करना हितकर है। जालन्धर बन्ध के साथ सिंहासन का अभ्यास करना चाहिए। शलभासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन या शीर्षासन में से कोई एक आसन नियमित रूप से करते रहने से वमन जैसे विकारों का न होना अथवा नष्ट होजाना निश्चित है।

(५) उड्डीयान बन्ध या मूलबन्ध करने से भी बहुत लाभ होता है। इन क्रियाओं के साथ नाड़ी-शोधन प्राणायाम या दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाली क्रिया करनी चाहिए। उज्जायी कुम्भक भी इसके शमन में एक सबल एवं उपयोगी उपाय है।

(६) छोटी पीपल, चव्य, चीता, सोंठ और पीपलामूल समभाग के चूर्ण का सेवन छर्दि रोग में बहुत लाभ करता है। इससे अरुचि, अफरा, शूल आदि भी नष्ट होते हैं। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध पंचकोल चूर्ण है।

(७) पिपरमेंट, कर्पूर और सत अजवाइन के मिश्रण रूप अमृतधारा की १० बूँद बताशे में डाल कर लेनी चाहिए। इससे जी मिचलाना और वमन आदि का पूर्ण रूप से शमन सम्भव है।

(८) बिजौरा नीबू, आम और जामुन के पत्ते तथा जड़ों को पृथक्-पृथक् लेकर कूट-पीस गोला बनावें और उसे सूत से लपेट कर गेहुँ के आटे का लेप करके उसके ऊपर मिट्टी का लेप कर आरने उपलों की आग में रख दें। जब उस लेप का रङ्ग लाल होजाय, तब निकाल कर मिट्टी और आटा आदि हटा कर औषधि-पिण्ड का रस निचोड़ लें। इसकी मात्रा २ से ४ तोला में मधु मिला कर पीना चाहिए। इससे सन्निपातज वमन भी शान्त होजाती हैं।

अरुचि के लक्षण एवं उपचार

वातादि दोषों के प्रकोप से अरुचि उत्पन्न होती है। इसके पाँच भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और मनस्तापज। इसकी उत्पत्ति

भय, शोक, लोभ, क्रोध तथा अन्नादि की गन्ध एवं किसी रूप के प्रति घृणा होने से होती है। अधिक भोजन कर लेने से भी अरुचि हो जाती है।

वातज अरुचि में मुख कषैला और दाँत खट्टे होजाते हैं, पितज में मुख का स्वाद कड़ुवा, खट्टा, गर्म, रस-रहित और दुर्गन्ध युक्त होता है तथा कफज अरोचक में मीठा, खारी, फेनयुक्त, ठण्डा और बँधा हुआ-सा कफ युक्त मुख होजाता है। सन्निपातज अरोचक में मुख का स्वाद एक रस न रह कर खट्टा, मीठा, कषैला आदि होता है।

मनस्तापज अरुचि शोक, क्रोध, लोभ, भय, अपवित्रता या दुर्गन्ध आदि के कारण होती है। इसमें मुख का स्वाद स्वाभाविक बना रहता है। इन सबका लक्षणानुसार उपचार करना चाहिए।

आयुर्वेदिक त्र्युषण चूर्ण

छोटी पीपल, काली मिर्च और सोंठ समान भाग लेकर चूर्ण कर लें, यह त्र्युषण चूर्ण अरुचि को नष्ट करने में रामबाण है। अग्नि को दीप्त करता तथा कण्ठ रोगों को भी दूर करता है।

प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर कूर्मासन लगा कर बैठें। मुख से वायु खींच कर कण्ठ मार्ग द्वारा उदर तक भरें और परिचालन कर अधोमार्ग से निकाल दें। इन यौगिक क्रियाओं को करते हुए उक्त चूर्ण का भी सेवन किया जा सकता है।

दाड़िमाष्टक चूर्ण

अनारदाने २ तोले, त्रिगन्ध (दालचीनी इलायची के दाने और तेजपात) १ तो०, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) ३ तो० और खाँड ८ तो० लेकर, कूट-कपड़छन कर चूर्ण बना लें। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध दाडि-

माष्टक चूर्ण है। इसकी मात्रा—१ से ३ माशे तक ली जानी चाहिए। चाहें तो ऊपर से ठण्डा या गर्म जल पी सकते हैं।

यह चूर्ण रुचिकारक होने के कारण सब प्रकार के अरोचक भेदों का शमन करने में समर्थ है। इससे अग्निमान्द्य, कब्ज, शूल, अफरा आदि में भी लाभ होता है। हृदय के रोगों या हृत्शूल में भी इसकी उपयोगिता सिद्ध हुई है। स्वरभेदादि कण्ठ-रोगों को भी यह चूर्ण दूर करता है। खाँसी तथा अनेक प्रकार के ज्वरों में भी इसका उपयोग कम नही है। परन्तु रोग और उसके लक्षण के अनुसार अनुपान का विचार करके देने से ही शीघ्र लाभ की सम्भावना होती है।

पेट में दर्द या उदर-शूल

यह विकार खान-पान की गड़बड़ी से होता है। बिना भूख भोजन कर लेना, खुराक से अधिक खा लेना, उड़द की दाल आदि गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना आदि कारण इसकी उत्पत्ति में प्रमुख रूप से सहायक होते हैं। कभी-कभी दिन में सोने और रात्रि में जागने, हर समय बैठे रहने, दिमागी कार्य करने और किसी प्रकार का भी परिश्रम न करने, कच्चा (अपरिपक्व) अनाज खाने या बासी भोजन करने से भी इसका होना सम्भव है। कब्ज रहना भी इसका एक कारण होता है।

इसमें नाभि के नीचे अथवा उसके आस-पास हल्का या तेज दर्द होता है। यदि दर्द हल्का होता है तो उसके साथ शरीर में भारीपन बना रहता है, आलस्य रहने से किसी कार्य में चित्त नहीं लगता और पूर्ण विश्राम करने को जी चाहता है। यदि उपचार ठीक नहीं होता तो जी मिचलाने लगता है, परन्तु वमन नहीं होता।

यदि दर्द तेज रहता है तो किसी भी विषय में चित्त नहीं लगता और रोगी बेचैनी के कारण रोता-चिल्लाता है। दर्द एक स्थान पर रहता है तो पेट फूला हुआ दिखाई देता है और एक स्थान पर नहीं रहता तो वेदना कुछ कम होती प्रतीत होती है। कभी-कभी लगता है

कि वायु ऊपर को चढ़ रही है और उस अवस्था में अधिक बेचैनी का अनुभव होता है। यदि उत्पन्न होते ही रोग की प्रभावकारी चिकित्सा की जाय तो शीघ्र आराम मालुम होता है।

पेट-दर्द में सरल उपचार

(१) गर्म जल से सेंक करना चाहिए। किसी बोतल में गर्म पानी भर कर सुहाता-सुहाता पेट पर रखें, अधिक उष्ण पानी भी अहितकर रहता है। नाभि पर घृत में मिलाकर हींग का लेप करना भी लाभप्रद है। इससे वायुनिस्सारण में बहुत मदद मिलती है।

(२) उत्कटासन, पश्चिमोत्तानासन, बज्रासन या स्वस्तिकासन का अभ्यास करें। अभ्यास से पहिले और बाद में गर्म जल से स्नान करें और वस्त्र पहिन कर शवासन से लेट जाँय।

(३) आसन करने के साथ दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम करें, भ्रमण प्राणायाम भी हितकर रहेगा, मूलबन्ध और उज्जायी कुम्भक हल्के पेट दर्द में लाभ करता है। यदि और कुछ न बने तो सर्वांगासन के साथ नियमित श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् श्वास लेना और छोड़ना धीरे-धीरे और नियमित होना चाहिए।

(४) भोजन बहुत हल्का करें, दाल-दलिया का सेवन उचित होगा। जल में नीबू का रस निचोड़ कर पीना हितकर है। दर्द के समय नीबू काट कर उस पर खाने का सोड़ा और नमक डाल कर चूसना चाहिए। जँभीरी के रस अथवा अर्क में सोड़ा डाल कर खाने से शीघ्र लाभ होता है।

(५) दूध का सेवन लाभप्रद नहीं होता। उससे गैस बनती और पेट फूलता है। यदि आवश्यक ही हो तो बकरी के दूध में समान भाग जल

मिला कर उबालें और थोड़ी मिश्री मिला कर सेवन करें। वह भी एक बार में चाय के एक कप से अधिक कदापि न लें।

(६) तेज दर्द की अवस्था में जल वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अथवा गर्म पानी के टब में कमर तक १०-१५ मिनट या सुहावे तो अधिक देर तक भी बैठ सकते हैं। प्यास लगने पर भी गर्म जल का सेवन हित-कर रहेगा। ग्रीष्म ऋतु हो तो उसे मिट्टी के पात्र में भर कर ठण्डा कर सकते हैं।

(७) पेट दर्द के साथ पतले दस्त होजाँय तो आयुर्वेदोक्त गंगाधर चूर्ण दही मिला कर खाँय अथवा ईसबगोल की भुसी भी दही बाँध कर उसके साथ खाई जा सकती है। साथ ही सैंधा नमक, काली मिर्च, जीरा भी मिला सकते हैं।

(८) दर्द के साथ दस्तों की हालत में आहार में खिचड़ी का सेवन अधिक हितकर होता है। जल का प्रयोग कम से कम करें और आराम से लेट जाँय।

(९) पिपरमेंट, कर्पूर और सत अजवाइन तीनों समान भाग लेकर अमृतधारा बना लें और इसकी दस-दस बूंद की मात्रा १ या २ घण्टे के अन्तर से २-३ बार या आवश्यकतानुसार लेने से भी लाभ होजाता है।

सामान्य सिर-दर्द और उसके लक्षण

वैसे तो सिर दर्द कोई स्वतन्त्र रोग नहीं माना जाता, वरन् विज्ञ चिकित्सकों के मत में यह किसी रोग का उपसर्ग मात्र हो सकता है। फिर भी जब कोई विकार है ही तो उसकी चिकित्सा भी होनी ही चाहिए और इसी दृष्टि से सभी पद्धतियों में उपसर्गों के रूप में भी ऐसे रोगों के उपचार मिलते ही हैं।

सामान्यतः शिर-दर्द के अनेक कारण होते हैं। कुछ नाजुक तबियत वालों के तो जरा सर्दी लगी कि शिर-दर्द हुआ। किसी-किसी को जुकाम

के कारण भी यह विकार होजाता है। वातिक दोष से भी इसकी उत्पत्ति होजाती है और अधिक ठण्डा जल पीना भी कभी-कभी इसका प्रमुख कारण बन जाता है। पेट की खराबी से भी शिर-दर्द होता देखा गया है।

प्रारम्भ में यह उक्त सभी कारण शिर-दर्द के सामान्य लक्षण उत्पन्न करते हैं। उनमें प्रमुख हैं—मस्तक में हल्का दर्द, भौंहों में दर्द की प्रतीति, नासिका से मस्तक पर्यन्त तीव्र वेदना, कपाल में हल्का, परन्तु बेचैन करने वाला दर्द अथवा सुई चुभोने या हथौड़ी की हल्की चोट मारने जैसा दर्द इत्यादि।

यदि उक्त लक्षणों का तात्कालिक उपाय नहीं होता तो रोग शरीर में जड़ पकड़ लेता है और कष्ट साध्य होता हुआ अन्त में असाध्य हो जाता है। यहाँ हम रोग की प्रारम्भिक अवस्था का उपचार लिखते हैं। उसकी कष्टसाध्य या असाध्य अवस्था पर आगे यथा स्थान प्रकाश डालेंगे।

सामान्य शिर-दर्द के उपाय

(१) प्रातःकाल स्नान से निवृत्त होकर शीर्षासन, पादशिरासन या भूमिपाद शिरासन का अभ्यास करना चाहिए। उत्थित जानुशिरासन भी बहुत उपयोगी है। साथ ही दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम करें अथवा उज्जायी कुम्भक करने से भी लाभ सम्भव है।

(२) मध्याह्न काल में १०-१२ मिनट तक टब स्नान, तत्पश्चात् भ्रमण प्राणायाम, अथवा महामुद्रा के साथ सहज कुम्भक या नभोमुद्रा के साथ आन्तरिक कुम्भक करना चाहिए।

(३) यदि वात-विकार से शिर में पीड़ा हो तो मीठे तेल की मालिश करनी चाहिए। पित्त-विकार से उत्पन्न पीड़ा में शिर पर ठण्डे जल की पट्टी रखें और कफ-विकार वाले शिर-दर्द में साफ मिट्टी की पट्टी रखने से लाभ होता है।

(४) सूर्य के सामने मुख करके बैठ जाँय, नासिका को सूर्य की सीध में रखें। थोड़ी देर में ही छींक आकर दर्द मिटने लगेगा और चैन पड़ जायगा।

(५) अथवा किसी ऐसे कमरे में एक कुर्सी पर या धरती पर बैठें या खड़े रहें, जिसके किवाड़ों में नीले काँच जड़े हों और उनके द्वारा आता हुआ सूर्य का प्रकाश नीली धारा डालता हो। अर्थात् नीले कांच से छन कर आती हुई नीली किरणों को दर्द के स्थान पर डालें तो शीघ्र लाभ होता है।

(६) एक नीले रंग की बोतल लें और उसे धूप में ८ घण्टे पर्यन्त रखें, उस बोतल से १-१ तोले जल लेकर दिन में ३-४ बार पीना चाहिए इससे शिर-दर्द का शमन होजाता है।

(७) आहार-विहार पर नियन्त्रण रखें। बहुत गर्म या बहुत ठण्डे पदार्थों का सेवन न करें। शीत ऋतु हो तो सर्दी से बच कर रहें। कभी कभी गर्मी की ऋतु में भी हानि होती देखी गई है।

(८) मैथुन से सर्वथा बचें, ब्रह्मचर्य-पालन भी हजार दवाओं में एक ही दवा है। चित्त को पूर्ण स्वस्थ या शान्त रखें, विषाद रहने की अवस्था में रोग भी बढ़ा हुआ प्रतीत होता है।

(९) मिर्च, खटाई अपथ्य हैं, इनका परित्याग करना चाहिए, भोजन हल्का और सुपाच्य होने से पेट की गड़बड़ी से उत्पन्न शिर-शूल में भी लाभ होता है।

(१०) शिर-दर्द में पुराने घृत की मालिश भी लाभ करने वाली होती है। अथवा बादाम रोगन में महीन वस्त्र भिगो कर उसकी पट्टी शिर पर रखें। गुलरोगन की पट्टी रखने से भी शिरशूल दूर होजाता है।

गले में दर्द एवं काग गिरना

आहार-विहार की गड़बड़ी से कण्ठ-नलिका में शोथ होकर दर्द होने लगता है। कभी-कभी सर्दी गर्मी के सम्मिलित प्रभाव से काग गिर जाता

है और उस स्थान पर काँटे से प्रतीत होते हैं। किसी भी वस्तु का खाना कठिन होता है, यहाँ तक कि जल की घूंट पीने में भी कठिनाई का अनुभव होता है।

अथवा गले की ग्रन्थियाँ फूल कर उनमें दर्द होने लगता है। कभी-कभी जिह्वा पर छालों के साथ खाँसी भी होजाती है। यद्यपि यह सब विकार पृथक्-पृथक् भी होते हैं और सम्मिलित रूप से भी होते देखे जाते हैं। तथापि इनके अनेक कारणों में भी एक प्रमुख कारण पेट की खराबी भी है, जिससे बहुत-से रोग स्वतः उत्पन्न होजाते हैं।

गले में दर्द के साथ काग के गिरने को तालुमूल-प्रदाह और टांसिल्स के विकार को गल-ग्रन्थि प्रदाह कहते हैं। यदि उदर को साफ रखा जाय तो यह विकार प्रकट नहीं होते, इसलिए इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

गुड़, तेल, खटाई, लालमिर्च आदि के सेवन से भी यह रोग जोर पकड़ जाते हैं। गर्म मसाले का सेवन भी इसमें हितकर नहीं है। बर्फ आदि ठण्डी वस्तुएँ भी गले के अनेक विकारों के आविर्भाव में सहायक हैं। खास कर गला बैठना (स्वरभंग) आदि का प्रमुख कारण भी इसी को समझना चाहिए।

गले में दर्द आदि विकारों के उपचार

(१) शास्त्रोक्त धौति कर्म से कण्ठ के सभी विकारों में लाभ होता है। जिह्वामूल धौति से गिरा हुआ काग यथा स्थान बैठ जाता है। गले में कफ जमा हो तो भी जिह्वामूल धौति से कार्य लिया जाय अथवा वमन धौति के प्रयोग से भी लाभ संभव है।

(२) प्रातःकालीन स्नान के उपरान्त मत्स्यासन, सिंहासन, शीर्षासन या सर्वांगासन में से किसी एक आसन का अभ्यास करें। इनके साथ कण्ठबन्ध, जालन्धरबन्ध, कपालभाति तथा भ्रामरी, शीतली या उज्जायी

कुम्भक करना चाहिए। काकी मुद्रा भी सब प्रकार के कण्ठ रोगों में श्रेयस्कर होती है।

(३)अथवा पद्मासन लगा कर बैठें और मुख के द्वारा वायु खींच कर मुख में ही इस प्रकार रोकें कि वह कण्ठ से कपोलों तक तनाव उत्पन्न कर दे। फिर उस वायु को धीरे-धीरे मुख में चला कर मुख-मार्ग से ही निकाल दें। इस क्रिया को ८-१० बार करना उचित है।

(४) गर्म जल में थोड़ा सेंधा नमक डाल कर उससे कुल्ले (गरारे) करें। यह गले के बैठने में बहुत लाभ करता है। अथवा अमृतधारा की फुरैरी गले में लगानी चाहिए। इससे काग बैठना, छाले होना या टाँसिल फूलना आदि का शमन होता है। यदि अमृतधारा को देशी घी में मिला कर गले के बाहर भी मल दें तो रोग में शीघ्र ही आराम होजाता है।

(५) यदि छाले हों, जीभ लाल हो अथवा जीभ पर सफेद दाने जैसे दिखाई दें और उनमें दर्द भी हो तो वातसार अन्तर्धौति का प्रयोग करना चाहिए। जिह्वामूल धौति, जल वस्ति, व्युत्क्रम कपालभाति, वज्रासन, गुप्तासन, योनियुद्रा अथवा उड्डीयान बन्ध करने से बहुत लाभ होता है। इनसे पेट की खराबी के कारण उत्पन्न कण्ठ, मुख, जिह्वा और तालु के नये-पुराने सभी रोग दूर हो सकते हैं।

(६) मध्याह्न काल में जिह्वामूल धौति के पश्चात् शीतली या भस्त्रिका कुम्भक करना चाहिए। इनका अभ्यास पद्मासन से बैठ कर अथवा सिद्धासन लगा कर करें।

(७) सायंकाल नमक के कुल्ले करें और सर्वांगासन का १-२ मिनट अभ्यास करें। ऐसा अभ्यास ३-४ बार करने से सभी कण्ठ रोगों में लाभ होता है।

(८) रात्रि में शयन से आध घण्टे पूर्व शहद में फूला हुआ सुहागा मिलाकर उसकी फुरैरी लगावें और शयन के समय गोदुग्ध में (शर्करा के स्थान पर) शहद मिला कर पीवें। इससे कण्ठ में चैन पड़ता है और गल ग्रंथियाँ स्वाभाविक अवस्था में आजाती हैं।

(६) रोग की तीव्र अवस्था में सूर्यभेदन कुंभक करने से लाभ होता है। किसी भी कारण से उत्पन्न हुए मुख और कण्ठ के रोगों में यह बहुत उपयोगी है।

दन्तशूल (दांत का दर्द)

इसे पाश्चात्य भाषा में टूथेक कहते हैं। इसकी उत्पत्ति के अनेक कारण हैं। ठण्डी हवा से, वादी से, गर्मी बादी या गर्मी-सर्दी से अथवा स्त्रियों को गर्भावस्था में भी यह विकार होजाता है। ऋतु-परिवर्तन भी इसमें एक प्रमुख कारण होता है। खान-पान की गड़बड़ी और उदर-विकार से प्रारम्भ होने वाला दर्द धीरे-धीरे अपनी जड़ जमा लेता है तो चाहे जब वेदना उत्पन्न कर देता हैं।

आयुर्वेद ने दाँत के सभी विकारों को मिला कर उसे दन्तरोग संज्ञा दी है और लक्षणानुसार उसके दश विभाग किये हैं, यथा—दालन, कृमिदन्तक, दन्तहर्ष, कराल, दन्तचाल, दन्त शर्करा, अधिदन्त, श्याव-दन्त, दन्तभेद और कपालिका। इनमें से दालन को वात से उत्पन्न मानते हुए कहा है कि इसमें दाँतों के चीरे जाने जैसी पीड़ा होती है।

वात से ही दाँतों में शोथ होकर काला-सा छेद होजाता है और कीड़े पड़ जाते हैं। घोर वेदना के साथ दाँत हिलने लगते और उनसे रक्त बहने लगता है। इसे कृमिदन्त कहते हैं। पित्त और वात (गर्मी-बादी) के प्रकोप से दाँतों में ठण्डा, रूखा और खट्टा पदार्थ खाने में लगता है तथा हवा लगना भी सहन नहीं होता, यह दन्तहर्ष भेद है।

कराल भेद में दाँत टेढ़े-मेढ़े होजाते हैं, दन्तचाल में दाँत हिलते हैं, शर्करा भेद में वात-पित्त से शुष्क हुआ दाँतों का मैल बालू के समान किरकिराने लगता है, अधिदन्त के उत्पन्न होने के समय बहुत पीड़ा होती है और उत्पन्न होजाने पर पीड़ा शान्त होजाती है।

श्यावदन्त में रक्त मिश्रित पित्त से पूरा दाँत दग्ध होकर नीला या काला होजाता है। दन्तभेद में सुई चुभने जैसी वेदना होती है और दाँत हिलहिल कर टूटते हैं। कपालिका में दाँतों में मैल जम कर जब किर-किराता है तब शिर फटने जैसा असह्य दर्द होता है।

दन्तमूल के विकार

दन्तमूल अथवा मसूड़ों में भी वातादि के प्रकोप से अनेक उपसर्ग दिखाई देते हैं। आयुर्वेद ने उसके भेद किये हैं, जिनमें से मसूड़ों में दुर्गन्धि, रक्तस्राव, टीस, गलाव या पकाव होने पर उसे 'शीताद' कहते हैं। क्योंकि यह कफ और रुधिर के प्रकोप से होता है।

पित्त-रक्त के सम्मिलित प्रकोप से 'उपकुश' नामक विकार होता है। इसमें दाह, पाक, शोथ और रक्त स्राव होता है तथा मुख से दुर्गन्ध आती है। 'दन्तविद्रधि' में घोर शोथ, दाह, पीडा, रक्त और पूय का स्राव होता है। 'दन्तपुप्पुट' में भयंकर शोथ होती है 'अधिमांस' में पिछली दाढ़ के मसूड़े में वेदना के साथ शोथ और लाला का अधिक स्राव होता है।

दन्तमूल के 'विदर्भ' संज्ञक विकार में मसूड़ों के रगड़ने पर सूजन होती और दाँत हिलने लगते हैं। यह किसी प्रकार की चोट लगने से होता है। 'सौषिर' में दन्तमूल में पीड़ायुक्त शोथ और लाला का स्राव होता है। 'महासौषिर' में सभी दाँत हिलने लगते हैं और पीड़ा युक्त सूजन होती है।

दन्त एवं दन्तमूल के विकारों के उपचार

दाँत और मसूड़ों के सभी विकारों में समान योग-क्रियाओं से उपचार सम्भव है। इसलिए पृथक्-पृथक् लिख कर पृष्ठवृद्धि करना अपेक्षित नहीं है। नीचे इन सब की उपचार विधियों पर प्रकाश डाला जाता है—

(१) दन्तमूल धौति का प्रयोग करें। अथवा अन्य कोई भी आयुर्वेदिक मंजन से दाँतों की सफाई नित्य प्रति करें। नीम या बंबूल की दाँतुन करना भी बहुत हितकर है।

सेंधा नमक, फिटकर और सुहागा-फूल समभाग का मँजन बनाकर नित्य नियमित रूप से मंजन करने से दाँतों से रक्त या पीव का गिरना रुक जाता है और दाँतों में दर्द भी नहीं होता। पाइरिया का यह उत्तम उपचार है।

(३) दर्द के स्थान पर अमृतधारा की फुरेरी लगाएं अथवा गर्म जल में फिटकरी डाल कर उससे कुल्ले करें तो दर्द भी बन्द होता है और रक्त का गिरना भी रुकता है।

(४) प्रातःकाल स्नान करके सिंहासन लगावें और दाँतों को परस्पर मिला कर होठों को खोल लें अर्थात् इस प्रकार की मुद्रा बनावें कि नीचे-ऊपर के होठ तो खुले रहें, परन्तु नीचे और ऊपर के दाँत मिल जांय। फिर दाँतों की सन्धियों के द्वारा बाहर से श्वास खीचें और नासापुटों से निकालें। इसका अभ्यास जितनी देर कर सकें, करते रहें। इससे दाँतों में बाहर की स्वच्छ वायु प्रविष्ट होकर उन्हें विकार रहित कर देती है।

(५) अथवा उक्त मुद्रा में दाँतों से वायु खींच कर दाँतों से ही बाहर निकालें। दन्त-रोग, विशेष कर दन्तशूल के लिए यह एक प्रभावकारी उपाय है। इसका नित्य नियमित रूप से निरन्तर अभ्यास किया जाय तो पाइरिया भी मिट सकता है।

(६) आसनों में शीर्षासन बहुत उपयोगी है। शीर्षपाद विलोमासन के साथ काकी मुद्रा के द्वारा वायु खीचें और निकालें। अथवा मुख के द्वारा दीर्घ श्वास-प्रश्वास के साथ सिंहासन करें। इससे दन्तशूल या दाँतों और मसूड़ों के अनेक विकारों में लाभ होता है।

(७) सर्वांगासन के समय मुख के द्वारा श्वास लें और छोड़ें, कुम्भक की आवश्यकता नहीं है। जब तक आसानी से आसन कर सकें, तब तक

मुख के द्वारा ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया करें और फिर कुछ देर शवासन से विश्राम करें।

(८) यदि दाँत में तेज दर्द हो और बैठने की भी इच्छा न हो तो शवासन से ही लेटे हुए दाँतों में श्वास खींचने और छोड़ने के प्रयास में तत्पर रहें तो अवश्य आराम मिलेगा।

(९) रोग जीर्ण हो तो समझना चाहिए कि वह उदर विकार के कारण उत्पन्न हुआ है। उसके लिए वातसार, अग्निसार या बहिष्कृत अन्तर्धौति, दन्तमूलधौति और जिह्वामूल धौति (दोनों), वासोधौति, स्थलबस्ति लौलिकी, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्यासन, जालन्धर बन्ध आदि के प्रयोग किये जा सकते हैं।

कर्णशूल या कानों में दर्द

कानों में अनेक विकार उत्पन्न होजाते हैं— सामान्य दर्द, चपक के साथ दर्द, कर्ग-प्रदाह. कर्णवृण, कर्णनाद, कर्णस्राव आदि । इनमें से सामान्य दर्द प्रायः कानों में मैल जम जाने से होता है। यदि दर्द अपनी जड़ जमा ले तो उसमें चपके मारते हैं और रोगी असह्य वेदना से परेशान होजाता है। कर्ण-प्रदाह में शोथ और चपकों के साथ ज्वर भी होजाता है। कर्णव्रण में कर्णकुहर के आस-पास छोटी-छोटी फुंसियाँ होना या कुहर के भीतर फुंसी उत्पन्न होकर शोथ, दर्द, पीव का स्राव आदि होता है। कानों में विकार बढ़ने पर स्राव होना बन्द नहीं होता।

आयुर्वेद ने कर्ण रोगों की संख्या २८ तक मानी है। शार्ङ्गधर के मत में उनके १८ भेद हैं, उन सब का विस्तृत विवेचन अभीष्ट नहीं है। लक्षण-भेद से उनके स्वरूप बताना उचित प्रतीत होता है वात, पित्त, कफ या रक्त के प्रकोप से ही इनकी भी उत्पत्ति मानी गई है। वात से कान का मैल सूख कर पीड़ा होती और उसमें शब्द-सा होता रहता है। पतली पीव बहती है और श्रवण शक्ति का ह्रास होजाता है।

पित्त-प्रकोप से शोथ, चीरने जैसी पीड़ा, दाह और दुर्गन्धयुक्त पीव बहता है। कफज में विरुद्ध सुनाई देना, खुजली कठिन और स्थिर शोथ, श्वेत पूय का स्राव तथा रक्तज में पैत्तिक कर्णरोग जैसे लक्षण होते हैं। त्रिदोषों के मिलने से मिश्रित लक्षण दिखाई देते हैं और उसका उपचार भी कठिन होता है।

कान में चोट लगने से व्रण होकर विद्रधि होजाती और पीव बहने लगता है। उसमें चोंटने जैसी पीड़ा होती है तथा पीव के साथ लाल, गुलाबी या पीले रंग का रक्त निकलता है। साथ ही स्थायी रूप से जलन होती रहती है। इस उपसर्ग को कष्टसाध्य और अन्त में असाध्य माना गया है। इससे बधिरता भी हो सकती है। इसलिए इस उपसर्ग के प्रति सतर्कता वर्तनी चाहिए।

कानों के सब रोगों के उपचार

(१) स्नानादि से पवित्र होकर नित्य प्रति कर्णरन्ध्र धौति करनी चाहिए। क्योंकि कानों में धूलि भरने से मैल बन कर मोंम जैसा बन जाता और धीरे-धीरे कड़ा होता हुआ वह मैल पर्त के रूप में जम जाता है, जिसके प्रभाव से दर्द होता और श्रवण शक्ति तक प्रभावित हो सकती है। उस मैल को नित्य प्रति साफ कर दिया जाय तो वह जमने नहीं पाता। इसी उद्देश्य से योगाचार्यों ने कर्णरन्ध्र धौति की व्यवस्था की है।

(२) सिंहासन या मत्स्यासन में से कोई एक आसन करें सर्वांगासन का प्रयोग भी हितकर रहता है, क्योंकि उसमें कण्ठ के साथ कर्णमूल में भी दबाव पड़ता है।

यदि कर्णरन्ध्र धौति की क्रिया नित्य की जाय तो कानों की दीवार पर फुन्सी आदि उपसर्ग नहीं होपाते और श्रवण-शक्ति अधिक आयु में भी ठीक बनी रहती है।

(३) जल नेति, वातसार धौति, नभोमुद्रा, जालन्धर बन्ध, मुख से श्वास खींच कर मुख फुलाने का प्राणायाम तथा काकी मुद्रा का अभ्यास करना भी लाभप्रद है।

(४) शीतली कुम्भक से भी कान के रोगों में लाभ होता है। अथवा जिस ओर के कान में दर्द हो उसी नासिका से श्वास भर कर उसी ओर से बाहर निकालना चाहिए। मुख से वायु खींच कर जिस ओर के कान में दर्द हो उस ओर के कपोल में तनाव पैदा करने और उसी ओर की नासिका से छोड़ने से भी लाभ होता है।

(५) जिस कान में नवीन दर्द हुआ हो, उसमें थोड़ा ठण्डा जल डालें तो उसी समय दर्द बन्द हो जायगा। अथवा सरसों का तेल गर्म करके सुहाता-सुहाता डालने से भी दर्द बन्द होजाता है।

(६) सुदर्शन के पत्ते को गर्म करके उसका रस दर्द वाले कान में टपकाना चाहिए। इससे भी कान के दर्द में लाभ होता और जमा हुआ मैल गलने लगता है।

(७) यदि कान में पीव या रक्त का स्राव होता हो तो समुद्रफेन का प्रयोग बहुत उपयोगी होता है। पहिले कान को पिचकारी द्वारा लाल दवा मिश्रित जल से साफ करके तब समुद्रफेन डालना चाहिए।

(८) दर्द वाले कान की कनपटी पर अमृतधारा मिश्रित घृत की मालिश करनी चाहिए। यदि यह न हो सके तो कनपटी को हाथ से सहलाते हुए श्वास खींच कर कुम्भक करने से शीघ्र लाभ होता है।

(९) अधिक तेज दर्द हो तो शवासन लगा कर लेटें और दर्द वाले भाग की नासिका से श्वास खींच कर कुछ देर भीतर रोके रहें और फिर दूसरी नासिका से बाहर निकाल दें। इस को १०-१५ बार दुहराने से सामान्य दर्द तुरन्त मिट जाता है। यह विधि अत्यन्त हितकर और अनुभूत है।

आँखों में लाली और दर्द

आँखों में भी अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होजाते हैं। ठण्डी हवा, धुँआ, धूप, ओस या चोट आदि के कारण आँखें दूखती हैं, इसे आँखें आना भी कहते हैं। इसमें कोये पर लाली के साथ काँटा या कंकड़ गढ़ने जैसा दर्द होता और पानी गिरता है। चक्षु-कोणों में पीव भी आने लगती है तथा पुतली में प्रदाह होता और प्रकाश सहन नहीं होता है।

अनेक बार अधिक दर्द के साथ आँखें फूल उठती हैं, पलकें बहुत-भारी होकर बेचैनी उत्पन्न होजाती है। आँखों में चिपचिपाहट उत्पन्न होकर दर्द चारों ओर फैलता हुआ प्रतीत होता है। सोकर जागने पर आँखें परस्पर चिपक जाती हैं और उनमें तेज दर्द होता है।

पलक में गुहेरी उठने पर भी बहुत दर्द और बेचैनी होती है। नेत्रों से निरन्तर जल का स्राव होता है और पीव भी निकलती है। अथवा गुहेरी के पकने तक उसके गूमड़ में दर्द होता है और पकने पर पीव निकल कर बेचैनी दूर होजाती है।

अनेक बार खुजली युक्त अल्प पीड़ा होती है, परन्तु सूजन होने से नेत्रों का मूँदना कठिन होता है। रोग के बढ़ने पर पलक और कोए सूज कर भीतर से काले होजाते हैं और उनमें पीड़ा होती है। अथवा बार-बार जोर से खाँसने का प्रभाव पड़ने या चोट लगने से भी कभी-कभी नेत्रों से खून निकलने लगता है उनके श्वेत भाग में काला दाग पड़ जाता है। परन्तु यह अवस्था उपचार के अभाव में ही उत्पन्न होती है।

आंखों में लाली और दर्द के उपचार

(१) प्रातः स्नान के समय नेत्रों को भी जल से ठीक प्रकार धोवें और रात्रि में शयन के समय कोई कागज या सुर्मा लगावें। इससे नेत्रों में स्वच्छता आती और दूखने का भय नहीं रहता।

(२) नेत्रों में दर्द के साथ जलन हो और चैन न पड़ता हो तो कच्चे आलू को छील लें और उसे पीस कर टिकिया बना कर नेत्रों पर बांधें तो बेचैनी शीघ्र ही दूर होजाती है।

(३) सूजन के साथ दर्द हो अथवा शोथ-रहित दर्द हो तो गर्म जल में सुहागे का फूला पीस कर मिलावें और उससे सेंक करें। अथवा गर्म जल में बोरिक एसिड डाल कर सेंक करने से भी बहुत लाभ होता है।

(४) शीत ऋतु में आँखें दुखने लगें तो गुलाब जल २-२ घण्टे से डालना चाहिए। अथवा फिटकिरी फुला कर स्रवित जल में मिलावें और उसका प्रयोग करें।

(५) शीर्षासन करें, पाद शिरासन भी उपयोगी है। मुद्राओं में योनिमुद्रा का प्रयोग करना चाहिए। अथवा जालन्धर बन्ध करने से कण्ठ संकोच के कारण नेत्रों पर भी हितकर प्रभाव पड़ता है।

(६) योगाचार्यों द्वारा बताया हुआ त्राटक कर्म सभी नेत्र रोगों का शमन करने में सहायक होता है। अल्प दृष्टि हो तो दृष्टि में तीव्रता आती है। एक बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'ओ३म्' अथवा 'श्री' लिखकर उस पर टकटकी लगावें और आँसू गिरने लगें तब देखना बन्द कर दें। इससे दिव्य दृष्टि की भी प्राप्ति होना माना जाता है।

(७) प्रातःकाल पद्मासन लगाकर नेत्रों की दृष्टि को किसी बिन्दु पर स्थिर करें और श्वास खींच कर तब तक कुम्भक करें जब तक कि किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न होने लगे इसके बाद प्रश्वास को बाहर निकाल दें। इसमें यह ध्यान रखने योग्य है कि जिस नेत्र में दर्द अधिक हो, उसी ओर के नासापुट द्वारा श्वास खींचकर, दूसरे नासापुट से निकालना चाहिए। इस प्रयोग से दर्द में शीघ्र लाभ प्रतीत होता है।

(८) सूर्यभेदी कुम्भक करना भी हितकर है। अथवा जालन्धर बन्ध के साथ उज्जायी कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार धैर्य-पूर्वक करने से अवश्य लाभ हो सकता है।

(९) नेत्रों के साथ कभी-कभी शिर में भी दर्द होजाता है, उस अवस्था में शिर पर पीला वस्त्र बाँधना ठीक रहता है। परन्तु जाड़ों की ऋतु हो तो शिर पर सूखा नीला वस्त्र धारण करें और आँखों पर हरा चश्मा चढ़ा लें। इससे पीड़ा की शान्ति शीघ्र होती है।

(१०) धूप में रखी हुई नीली वोतल का जल पीना चाहिए, इससे भी दर्द मिट जाता है। यदि साथ ही नेत्रों पर गहरे नीले काँच के द्वारा सूर्य का प्रकाश डाला जाय तो शीघ्र लाभ सम्भव है। प्रकाश डालते समय नेत्रों को वन्द रखना आवश्यक है।

(११) गर्म घृत के फाये से भी दर्द और जलन दूर होजाती है। उसके लिए साफ रुई का फाहा बना कर उसे जल में भिगोवें और एक कलछी में शुद्ध देशी घी डाल कर उसे आग पर तेज कर लें और जल युक्त फाये को डाल कर चटकालें। जब पानी का अंश शेष न रहे तव निकाल कर सुहाता-सुहाता नेत्रों पर बाँधें। इससे चोट के कारण उत्पन्न दर्द और घाव भी मिट जाता है।

हाथ, पांव में मोच लगना

किसी प्रकार पाँव के मुड़ जाने पर झटके के साथ मोच आजाती है, पाँव में एक रवड़ की रस्सी जैसी नस होती है उससे एड़ी आदि का बंधन रूप में सम्बन्ध होता है, परन्तु यह रस्सी जैसी नस किसी प्रकार के आघात से हट जाती है, तव मोच की स्थिति उत्पन्न होती है। उस अवस्था में मोच का स्थान सूज जाता है और उसमें दर्द होने लगता है। पाँव रखते ही बड़ा कष्ट होता है तथा चलना फिरना दूभर होजाता है।

मोच आने का यह कष्ट पाँव में ही होता हो, ऐसी बात नहीं है हाथ में भी चोट लग कर नस हट जाती है और कभी-कभी तो गट्टा तक उतर जाता है। मोच के स्थान पर हाथ लगाना भी कठिन होजाता है और रोगी चाहता है कि वह जिस स्थिति में है, उसी स्थिति में उसे रहने दिया जाय।

मोच के सरल उपचार

(१) मोच आने या नस उतरने के स्थान पर हल्के हाथ से तिली का तेल लगाकर सेंक करें और उस पर शिर के बाल रख कर कपड़ा बाँध दें । इसके बाद आराम से लेट जाँय ।

(२) मोच खाये हुए अंग को आराम देना आवश्यक है उसे हिलाने-डुलाने से तकलीफ बढ़ जाती है । इसलिए शान्त होकर बैठे या लेटे रहें ।

(३) अथवा हल्दी और चूना पीस कर उनमें नमक अथवा शोरा मिला कर गर्म करें और मोच वाले स्थान पर लगा कर पट्टी बाँध दे। इस प्रकार दिन में २-३ बार हल्दी चूने को सुहाता-सुहाता गर्म बाँधने से अधिक लाभ होता है ।

(४) अथवा जल में भिगो कर चने रख कर कस कर गीली पट्टी बाँधें और थोड़ी-थोड़ी देर में उस पर जल छिड़कते रहें । इससे चने फूलने लगते हैं और उनका दबाव पड़ने से नस भी बैठ जाती है । परन्तु इसमें थोड़े धैर्य की आवश्यकता होती है ।

(५) घृत में अमृतधारा मिला कर मोच के स्थान पर हल्के हाथ से मलें और ऊपर से रुई के नामे से सेंक कर पट्टी बाँध दें । या तारपीन का तेल १ भाग और तिल का तेल २ भाग मिला कर लगावें और सेंक कर जोर से बाँध दें ।

(६) उत्कटासन के साथ जालन्धर बन्ध, भस्त्रा कुम्भक, सूर्यभेदन कुम्भक आदि करें । परन्तु इसके साथ भी मोच का स्थान कस कर बँधा रहना चाहिए । अथवा मोच के स्थान पर तेल लगाकर सेंकें और बाँध कर शवासन से लेट जाँय ।

(७) चोट की ओर से ध्यान हटाने का प्रयत्न करें । उसके लिए शवासन लगा कर लेटें और अपने विश्वास के अनुसार सगुण या निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में तल्लीन होने का प्रयत्न करें इससे शीघ्र लाभ की सम्भावना रहती है ।

चोट लगना या कुचल जाना

शरीर के किसी भी अंग पर किसी चीज से चोट लगने अथवा उस अंग के किसी भारी वस्तु से कुचल जाने से उस स्थान पर शोथ के साथ पीड़ा होती है। कभी-कभी कोई नोंकदार या धारदार वस्तु के लगने से यदि चोट का स्थान फट कर वहाँ रक्त बहने लगता है, तो उससे वेदना कम होजाती है।

अनेक बार चोट के स्थान पर गूमड़ा-सा बन जाता है और उसमें काफी दर्द होता है, जिससे मन में बेचैनी होजाती है और ध्यान वहीं लगा रहता है। वैसे यदि इसका कुछ उपचार न किया जाय तो कुछ दिनों में वह स्वतः मिट जाता है।

चोट लगने या कुचलने के उपचार

(१) जिस अंग में चोट या मोच हो उस अंग के खिचाव वाले आसन करने चाहिए। जैसे पाँव या घुटने में चोट लगी हो तो आकर्ण धनुषासन किया जाय। उसके साथ प्राणायाम की जो विधि बताई गई है, उसे भी यथावत् करने से शीघ्र लाभ की संभावना बढ़ जाती है।

(२) किसी हाथ में चोट या मोच हो तो गोमुखासन करना उचित है। इसमें हाथों को पीछे ले जाते समय १० सैकिण्ड पूरक और हाथों को परस्पर मिला कर खींचते हुए २० सैकिण्ड कुम्भक करना चाहिए। फिर हाथों को छोड़ते समय धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए रेचक किया जाय। इसके अभ्यास की आठ-दस बार पुनरावृत्ति करें। इससे शीघ्र लाभ होता है।

(३) मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध को मिश्रित करने से महाबन्ध होता है। इसके अभ्यास से चोट, मोच, शोथ, दर्द आदि का शीघ्र शमन होता है। पश्चिमोत्तानासन भी इसमें बहुत लाभ करता है।

(४) चोट आदि में भी सेंक बहुत उपयोगी रहता है। हल्दी-चूने को गर्म-गर्म बाँधने से भी लाभ होता है। तारपीन का तेल और मीठा तेल मिला कर लगाने से भी आराम मिलता है।

(४) गर्म जल में बोरिक डालकर सेंक करें और पुराने घृत में कपूर मिला कर लगावें। अथवा घृत का कुनकुना बना कर सेंक करें और उसी को बाँध दें। इससे धीरे-धीरे लाभ होने लगता है।

(६) बिजौरे की जड़, जटामाँसी, देवदारु, सोंठ, रास्ना और अरनी को समान भाग लेकर कपड़छन कर जल योग से चोट के स्थान पर लेप करना चाहिए। इससे चोट से उत्पन्न हुई सूजन अथवा वादी की सूजन भी दूर होजाती है।

(७) यदि स्थान के फटने पर खून निकल आये तो पानी में नीम की पत्तियाँ डाल कर उससे सेंक करना चाहिए। यदि इसमें बौरिक और डाल दें तो और भी लाभप्रद होता है।

खसरा या छोटी माता

यह रोग यद्यपि बच्चों को अधिक होता है, तथापि कभी-कभी वयस्कों को भी होता हुआ देखा गया है। प्रारम्भ में सर्दी के साथ छींकें आतीं और नाक से पानी गिरता है, खाँसी होजाती है और आँखों से भी जल बहने लगता है। इसे पाश्चात्य भाषा में मीज़ल्स कहते हैं।

कुछ रोगियों को स्वर भंग होजाता है, शिर में दर्द, पीठ और हाथ-पाँव आदि में दर्द के साथ ज्वर की उत्पत्ति होती है। इसके ३-४ दिन बाद खसरे की लाल-लाल फुंसियाँ प्रकट होकर मुख, गर्दन, वक्षस्थल और फिर समूचे शरीर में छा जाती हैं। इसमें यदि किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो तो ३-४ दिन में रोग का शमन स्वतः ही होजाता है।

यदि ज्वर का तापमान बढ़ता है तो रोगी प्रलाप करने लगता है और उसे तन्द्रा आजाती है। साथ ही उपसर्ग रूप में मिचली, वमन,

कोष्ठबद्धता अथवा पतले दस्त या खून मिले दस्त लग जाते हैं। साथ ही श्वासनली का प्रदाह, और फुफ्फुस-प्रदाह का भी अनुभव होने लगता है।

इसका निर्दोष लक्षण यह है कि उत्पन्न हुआ खसरा किसी प्रकार की गड़बड़ी से दब न जाय, अन्यथा जीवन संकट में पड़ सकता है, खसरे का अधिक लाल या काला होना भी कोई अच्छा लक्षण नहीं माना जाता। इसलिए सतर्कता रखना आवश्यक है।

खसरा रोग के उपचार

(१) रोगी को दोष-रहित लक्षण में किसी प्रकार की औषधि की आवश्यकता नहीं होती। उसे पथ्य रूप में बार्ली, साबूदाना. अरारोट, मिश्री और सादा ठण्डा पानी देना चाहिए। गोदुग्ध में समान भाग जल मिला कर औंटावें और ठण्डा करके पिलावें। यदि बकरी का दूध दें तो अधिक हल्का और पाचक रहता है।

(२) रोगी के शरीर को सीधी हवा न लगे, इसलिए खिड़की-किवाड़ों को इस प्रकार खोल रखें जिससे कि उसकी हवा विपरीत ओर पहुँचती रहे। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि खिड़की-झरोखे बिल्कुल ही बन्द न रखे जाँय, अन्यथा हवा और प्रकाश न रहने से रोग में वृद्धि होती है।

(३) सर्वांग का स्वच्छ रहना आवश्यक होता है। ऋतु के अनुसार ठण्डे या गर्म जल से शरीर धोकर सूखे वस्त्र से पोंछ दें। अथवा गीले वस्त्र से शरीर को स्वच्छ करके सूखे वस्त्र से पोंछें और फिर तुरन्त ही पहिनने के कपड़े पहिन लें। परन्तु, अधिक तापमान की अवस्था में यह क्रिया नहीं करनी चाहिए।

(४) जो लोग आसनादि कर सकें, उन्हें सुखासन, भद्रासन, मत्स्यासन या सर्वांगासन करना चाहिए। शलभासन या भुजंगासन भी हितकर

रहता है। साथ ही यदि कब्ज या पतले दस्त हों तो शीर्षासन करना उचित है।

(५) उक्त आसनों के साथ दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम या नाड़ी शोधन प्राणायाम करना हितकर है। उज्जायी या शीतली कुम्भक करने से भी आशातीत लाभ सम्भव है।

(६) अथवा रोगी को शवासन से पूर्ण विश्राम करावें और उसे निर्देश दें कि मुख से वायु खींच कर कुछ सैकिण्ड तक रोकें और फिर नासापुटों के द्वारा बाहर निकाल दें। इसकी पुनरावृत्ति तब तक करावें, जब तक कि किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो।

(७) यदि रोगी सशक्त हो और लेट-लेटे थक गया हो तो वह किसी भी अनुकूल आसन से बैठ कर बाँयी नासा से श्वास खींच कर रोके और अपने सभी अंगों पर धीरे-धीरे हाथ फेरे और फिर श्वास को बाहर निकाल दें। इसे इस क्रम से किया जा सकता है कि श्वास खींच कर पहले मुख पर हाथ फेरें और श्वास छोड़ दें। फिर श्वास खींच कर गर्दन कन्धे आदि पर हाथ फेर कर श्वास को बाहर निकाल दे तत्पश्चात् श्वास खींच कर छाती आदि अंगों पर हाथ फेरें और श्वास छोड़ें। इस प्रकार क्रमिक क्रिया के द्वारा सभी अवयवों पर हाथ फेरना चाहिए। इस प्राणायाम के द्वारा शरीर में विद्यमान विद्युत् में रोग-निवारिणी शक्ति का प्राकट्य किया जाता है।

चेचक या शीतला के लक्षण

पाश्चात्य भाषा में इस रोग को 'स्मॉल पॉक्स' कहते हैं। भारतीय चिकित्साविदों ने इसे 'मसूरिका' भी कहा है। यह एक प्रकार की संक्रामक बीमारी भी है, जो कि एक से दूसरे को लग जाती है। इसके बीजाणुओं के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह पता नहीं लगता कि उनका स्वरूप कैसा है? प्रायः देखा जाता है कि यह रोग हवा और मक्खियों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा पहुँचता है।

आयुर्वेद के अनुसार 'कट्वम्ललवणक्षार विरुद्धाध्यशनातपैः' दुष्ट निष्पावकाद्यैः प्रदुष्टैः पवनोदकैः' इत्यादि अर्थात् कड़वे, खट्टे, नमकीन, खारी और विरुद्ध पदार्थों के एक साथ खाने से अथवा दुष्ट शाकादि या दूषित जल वायु के सेवन से शरीरस्थ दोष बढ़ कर और दूषित रक्त से मिल कर मसूर के आकार की फुंसियाँ उत्पन्न कर देते हैं, इसलिए इस रोग को 'मसूरिका' कहते हैं।

वातजा, पित्तजा, कफजा, रक्तजा, माँसजा, मेदजा, अस्थिजा, सन्निपातजा, त्वग्गत, मज्जागत और शुक्रगत के भेद से ११ प्रकार की मसूरिका होती है। वात-पित्त से, वात-कफ से और कफ-पित्त से उत्पन्न होने वाले तीन भेद और माने गए हैं। इनमें काली, लाल, रूक्ष, तीव्र पीड़ा-युक्त, कठिन, देर में पकने वाली, हड़फूटन, कास, कम्प, ग्लानि आदि से युक्त वातजा, लाल, पीले, श्वेत व्रण, तृष्णा, दाह और पीड़ा से युक्त एवं शीघ्र पकने वाली पित्तजा तथा मुख से अधिक कफ गिरने, शून्यता, सर्वांग पीड़ा, मिचली, अरुचि आदि वाली कफ से उत्पन्न मानी जाती है। मिलित नाम वाली में मिश्रित लक्षण होते हैं। त्वचागत जल के बुलबुले के समान होती है, जिसके फूटने पर जल बहता है। माँसगत बहुत कड़ी, चिकनी और दीर्घपाकी होती है। मेदगत तीव्र ज्वर, चिकनी, मोटी, गोल कोमल और पीड़ायुक्त होती है। शुक्रगत में बहुत पीड़ा, शिर में कँपकँपी, श्वास, खाँसी और ज्वर का प्रकोप रहता है। रक्त से उत्पन्न मसूरिका का वर्ण अत्यन्त लाल होता है।

मसूरिका परस्पर दो-तीन या अधिक जुड़ जाती हैं और उनमें पक कर पीव बहने लगता है तो उसे संयुक्त चेचक कहते हैं। परन्तु मसूरिकाओं का चेहरे, मस्तक, कण्ठ और नासिका पुटों के भीतर उत्पन्न होना अधिक हानिकारक हो सकता है। इस अवस्था में रोगी के प्रति अधिक सतकता बरती जानी चाहिए।

चेचक या शीतला के उपचार

(१) यह रोग भी बच्चों को ही अधिक होता है, इसलिए परिचारकों का कार्य है कि रोगी की ठीक प्रकार परिचर्या करें और रोग की स्थिति के प्रति सदा सतर्क रहें, क्योंकि इसकी बिगड़ी हुई अवस्था सांघातिक हो सकती है।

(२) जब तक दाने पूरी तरह निकलें तब तक गर्म जल से नित्य प्रति स्नान कराकर सूखे वस्त्र से पोंछना चाहिए। इससे दाने स्वाभाविक रूप से शीघ्र निकल आते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि ज्वर की अवस्था में रोगी को स्नान न कराया जाय।

(३) चेचक को प्रारम्भिक अवस्था में खसरे जैसा उपचार करें वयस्क व्यक्तियों को आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का प्रयोग उसी प्रकार करना श्रेयस्कर है।

(४) सिंहासन लगा कर रेचक के पश्चात् बाह्य कुम्भक करने से आन्तरिक दोष निकल कर शरीर की नाड़ियाँ उन्मुक्त होती हैं। उनके मार्गों में रुका हुआ मल हट कर उनकी गति नियमित होजाती, जोकि रोग का शमन करने में अत्यन्त सहायक है। इसकी विधि इस प्रकार है—

सिंहासन लगाकर बैठते समय श्वास छोड़ कर रेचक प्राणायाम करें और श्वास को जितनी देर बाहर रोक सकें उतनी देर रोक कर पूरक प्राणायाम द्वारा पुनः भर लें। इसमें मुख खोलने और वायु को बाहर ही रोक रखने से शीघ्र लाभ सम्भव होता है।

(५) नाड़ी-शोधन प्राणायाम की भी कम उपयोगिता नहीं है। शीतली कुम्भक या भस्त्रिका कुम्भक भी लाभप्रद है। अथवा नभोमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। सशक्त रोगी विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा भी बहुत कुछ लाभ उठा सकता है।

(६) काकी मुद्रा का प्रयोग करें, यह मसूरिका की प्रारम्भिक अवस्था में उपयोगी है। इसमें नासिका द्वारा वायु न खींच कर जिह्वा के द्वारा मुख में खींची जाती है, इससे मुख-मण्डल पर उत्पन्न हुई मसूरिका भी शान्त हो सकती है।

(७) नासापुटों को प्राप्त हुई मसूरिका के लिए सहज प्राणायाम करना चाहिए। तालबद्ध प्राणायाम से शरीर में रोग-निवारक शक्ति बढ़ती है और नासागत मसूरिका का शमन होता है।

(८) अस्थि, मेद एवं शुक्रादि को प्राप्त हुई मसूरिका के शमनार्थ जालन्धर बन्ध, महाबन्ध, उज्जायी प्राणायाम आदि करने चाहिए। पश्चिमोत्तान आसन के साथ दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाले प्राणायाम करने से भी अपेक्षित लाभ सम्भव है।

(९) रोगी को स्वच्छ, हवादार कमरे में रखें परन्तु हवा उस पर सीधी न लगे। उसे कोमल बिछौने पर लिटायें और उसके चादरे को नित्यप्रति बदल दें। जिस करवट से आराम प्रतीत हो, उससे लेटने दें।

(१०) मसूरिकाओं में पीव पड़ जाने पर उन्हें हाथ से न छुएँ। नीलिगिरी के तेल या जैतून के तेल में ५ प्रतिशत बोरिक एसिड डाल कर हल करें और रुई के फाये से लेकर मसूरिकाओं में लगावें। इससे पीव शीघ्र ही सूखने लगेगा।

(११) मसूरिकाओं में पीव सूखने पर उन्हें गर्म जल के भीगे हुए वस्त्र से धीरे-धीरे पोंछ दें। रोगी के पहनने के वस्त्र नित्य प्रति बदलते रहने चाहिए।

(१२) मसूरिकाओं का जोर से खुजाना अहितकर है, उससे विष फैलने का डर रहता है। यदि रोगी अबोध हो तो उसके नाखूनों पर कपड़ा बाँध देना चाहिए।

(१३) रोग शान्त होने पर चेचक के दाग मिटाने के लिए दूध की मलाई और जैतून का तेल समभाग फेंट कर मसूरिकाओं पर लगाना

चाहिए । अथवा चन्दन का तैल या घिस कर चन्दन लगाने से भी लाभ होता है ।

मोतिया माता या जल चेचक

इसे पाश्चात्य चिकित्सक 'चिकन पाक्स' कहते हैं । यह रोग अवयस्कों को ही अधिक होता है । इसमें हल्के बुखार के साथ ऊपर की ओर उठी हुई नुकीली मसूरिकाएँ निकलती हैं, जिनमें जल भरा होने के कारण फफोलों जैसी आकृति होजाती है । यह रोग सांघातिक नहीं माना जाता और कोई अन्य विकार उत्पन्न न होजाय तो ६-७ दिन में ही स्वतः शमन होजाता है । रोग बढ़ता है तो समूचे शरीर में पीड़ा और कँपकँपी तथा शिर में भारीपन और बेचैनी होने लगती है । इसलिए पथ्य-परहेज का तो पूरी तरह ध्यान रखना ही चाहिए ।

जल चेचक के उपचार

(१) रोगी को सर्दी से बचाना चाहिए । ज्वर हो तो हवा आदि से बचने का पूरा प्रबन्ध रखें । बिना भूख कुछ न दें और यदि भूख लगे तो हल्का पथ्य दें । दूध, साबूदाना, बार्ली आदि दिया जा सकता है । पीने का पानी स्वाभाविक ठण्डा देना चाहिए ।

(२) रोगी वयस्क हो तो उसे सुखासन, पद्मासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम या दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम करना चाहिए । सूर्यभेद कुम्भक की विधि भी उपयोगी है । अथवा दोनों नासापुटों से वायु खींच कर तब तक रोखें जब तक कि किसी प्रकार की असुविधा प्रतीत न हो और फिर धीरे-धीरे छोड़ दें ।

(३) अथवा शवासन से लेटे हुए ही मुख के द्वारा श्वास खींच कर दोनों नासाछिद्रों से निकाल दें और फिर नासाछिद्रों से खींच कर मुख से निकालें । यह क्रिया दिन में तीन बार करनी चाहिए ।

(४) प्रत्याहार के प्रसंग में वर्णित सर्वांग प्राणायाम करें । इससे समूचे शरीर का शोधन होकर दोषों का शमन होजाता है । परन्तु

अशक्त होने की अवस्था में इसके करने में कठिनाई होती है, इसलिए इस क्रिया को वेही व्यक्ति करें जिनके शरीर में कुछ शक्ति हो।

(५) शवासन के आकार में लेटें और आँखों को बन्द कर लें, फिर वाम नासा से धीरे-धीरे श्वास लें और आधी मिनट तक रोक कर दक्षिण नासा से निकालें। इस क्रिया को १०-१२ बार दुहरावें तथा प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों समय करें। यदि रोगी कुछ और न कर सके तो केवल तालबद्ध प्राणायाम करके भी अपने को मुक्त कर सकता है।

(६) अथवा शवासन की मुद्रा में लेटे हुए ही नेत्र बन्द करके अपने इष्टदेव का ध्यान करें। उस समय ऐसा अनुमान करना चाहिए कि मेरी रोग दूर होता जारहा है। कुछ अनुभवी व्यक्तियों का कहना है कि ऐसी अवस्था में गायत्री का ध्यान करने से बहुत लाभ होता है और रोग के शमन में अधिक विलम्ब नहीं होता।

(७) गंगाजल में प्रवाल (मूंगा) के दाने डाल देने चाहिए। उस जल को पीना अधिक हितकर रहता है। अथवा अनविधे मोती जल में डाल कर, उस जल को पीवें, इससे दिल पर ताकत बनी रहने के कारण अधिक कमजोरी नहीं आती।

(८) रोगी अवयस्क या शिशु हो तो उसे आराम से लिटायें रखें और यह प्रयत्न करें कि उसका मन बदला रहें। इस रोग में खसरे के प्रसंग में वर्णित क्रियाएँ भी हितकर रहती हैं।

स्वरभंग रोग के कारण और लक्षण

स्वरभंग के ६ प्रकार माने गए हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, मेदज और क्षयज। इनकी उत्पत्ति अधिक जोर से बोलने, विष खाने, उच्च स्वर से पढ़ने अथवा किसी प्रकार का आघात लगने से वातादि दोष कुपित होकर-स्वर वाहक छिद्रों में बैठ कर स्वरयन्त्र को विकृत कर देते हैं, जिससे स्वरभंग होजाता है।

वातज स्वरभंग में रोगी के नेत्र, मुख, मूत्र और मल का वर्ण काला पड़ जाता है तथा कण्ठ से गधे के समान फटा हुआ स्वर निकलता है। यथा 'वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्धा भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत्स्वरं च।' यह वात से उत्पन्न स्वरभंग के लक्षण हैं।

पित्त से उत्पन्न स्वरभंग रोग में रोगी के नेत्र, मुख, मूत्र और मल पीले पड़ जाते हैं तथा बोलने के समय कण्ठ में जलन होती है, जिससे अधिक बेचैनी प्रतीत होती है।

कफ के दोष से होने वाले स्वरभंग में गला रुँधने के कारण मुख से बोला नहीं जाता और धीरे-धीरे वाणी निकलती है तथा दिन के समय बहुत कम बोला जाता है।

सन्निपातज या त्रिदोष से उत्पन्न स्वरभंग में वातादि तीनों दोषों के कोप से जो लक्षण होते हैं, वे सम्मिलित रूप से दिखाई देते हैं। इसे आयुर्वेद ने असाध्य माना है।

मेद से उत्पन्न हुए स्वरभंग में बड़ी कठिनाई और विलम्ब से स्वर निकल पाता है, क्योंकि कण्ठ के भीतर चर्बी लिपट जाती है। इसमें प्यास अधिक लगती है और बोला नहीं जाता।

क्षयज स्वरभंग की उत्पत्ति धातु का क्षय होने से होती है। उसमें बोलने के समय मुख से धुंआ-सा निकलने लगता और बोला नहीं जाता। आयुर्वेद में इसे भी असाध्य एवं त्याज्य माना गया है।

इस प्रकार जो स्वरभंग जिस कारण से उत्पन्न हुआ हो, उसका उसी के अनुरूप नाम-लक्षण समझना चाहिए। इसकी उत्पत्ति उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी हो सकती है, जिनमें उपदंश रोग, गुटिका-दोष या कैंसर आदि कारण प्रमुख रूप से देखे जाते हैं। गर्मी-सर्दी अर्थात् गर्म पदार्थ जैसे दूध या चाय के ऊपर ठंडी वस्तु के सेवन से अथवा बरफ आदि के खाने से भी गला बैठ जाता है।

स्वरभंग के प्रमुख भेद

वस्तुतः इसे नवीन और स्थायी के भेद से दो प्रकार का मान सकते हैं। नवीन या सामान्य स्वर भंग का कारण सर्दी लगना या बहुत ठण्डी वस्तुएँ (बरफ आदि) खा लेना ही है। इससे स्वरतन्त्री के समीप की पेशियाँ दूषित होजाती हैं इसलिए स्वर में परिवर्तन आ जाता है।

खाँसी आदि के कारण भी गला बैठ जाता है अथवा कण्ठ-नालिका के प्रतिकूल गुण वाली किसी औषधि का सेवन भी उन पेशियों में विकार उत्पन्न करके गले में काँटे-से उत्पन्न करके स्वरभंग की उपस्थिति कर देते हैं। इससे यह आवश्यक नहीं कि स्वर भंग पूर्ण रूप से ही होजाय, वरन् आवाज में कुछ न कुछ विगाड़ उत्पन्न होजाता है। उसमें रूक्ष, कर्कशा या फटा हुआ स्वर अथवा अस्फुट ध्वनि भी सम्मिलित है।

गला बैठने के उपचार

(१) सिंहासन लगावें, दो मिनट बाद काकी मुद्रा के द्वारा मुख मार्ग से वायु खींच कर जल के समान पीवें और कण्ठ तक भर कर धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। इससे स्वरयन्त्र और उसकी समीपस्थ पेशियाँ स्वच्छ और विकार रहित होजाती हैं।

(२) पद्मासन लगाकर शीतली कुम्भक का अभ्यास करें। अथवा जालन्धर बन्ध के साथ उज्जायी कुम्भक करने से बहुत कुछ लाभ होता है।

(३) कुछ विद्वान् सर्वांगासन को इसका श्रेष्ठ उपचार मानते हैं। उसमें गले पर अधिक दबाव पड़ने के कारण स्वरयन्त्र का अवरोध मिट सकता है। इसके साथ ही काकी मुद्रा का प्रयोग करना हितकर है। नभोमुद्रा भी हितकर रहती है।

(४) मुख के द्वारा वायु खींच कर मुख में ही रोक कर चलावें और दोनों नासापुटो बाहर निकाल दें। इसमें वायु से मुख को पूरी तरह

भर कर मुख में उस वायु का इस प्रकार चालन किया जाता है कि वह कण्ठ तक के आन्तरिक चर्म को खुरच कर निकालदे। इस प्रकार वायु के द्वारा मुख का प्रक्षालन होजाता है, जिससे स्वर-विकार का शमन होता है।

(५) उक्त क्रियाओं में से कोई एक क्रिया दिन में तीन बार करनी चाहिए। साथ ही गर्म जल में नमक डाल कर कुल्ले करने से आवाज शीघ्र सुधर जाती है।

(६) शहद में सुहागा फुला कर मिलावें और उसकी फुरैरी गले में लगावें। अथवा ग्लेसरीन में बोरिक एसिड मिला कर फुरैरी लगाने से भी लाभ होता है।

आग से जल जाना

बहुत बार असावधानी के कारण शरीर का कोई अवयव आग से जल जाता है तो उसमें जलन होती और फफोला पड़ जाता है। खाना बनाते समय घृत या तेल के छींटे पड़ने से भी यह परेशानी उत्पन्न हो जाती है। यदि उसका तत्काल कोई उपचार नहीं होता तो छाले फूटकर स्राव करने लगते हैं और उपसर्ग बढ़ने पर मवाद युक्त घाव बन जाते हैं। यदि शरीर का अधिक भाग जल जाता है तो उससे मृत्यु तक हो जाती है।

ढीले वस्त्रों में आग लगने पर बुझाना कठिन होता है, हवा के साथ आग बढ़ती जाती है और जब तक वस्त्र पूरी तरह नहीं जल जाते तब तक शान्त नहीं होती। इससे जलते हुए मनुष्य के मर्मस्थल तक प्रभावित हो सकते हैं और इसका रूप आकस्मिक दुर्घटना का होजाता है।

आग से जलने पर विविध उपचार

(१) पहने हुए वस्त्रों में आग लगते ही धरती पर लेट जाना चाहिए और जलते हुए वस्त्र पर गद्दी, तकिया, दरी, गलीचा आदि डाल कर दबा देना चाहिए। इससे आग बुझ जाती है।

(२) वस्त्रों में आग लगने पर दौड़ें नहीं और न जल से ही बुझाने का प्रयत्न करें, क्योंकि इन दोनों उपायों का विपरीत परिणाम निकलता और आग बुझने के बजाय बढ़ने लगती है।

(३) आग बुझने पर जले हुए अंग पर नारियल (गोला) का तेल डालें। उस तेल में चूना और कपूर मिला कर डाला जाय तो अधिक लाभ करता है। कपूर से जलन भी कम होती है।

(४) नारियल का तेल डाल कर नमक से उस भाग को ढक दें। यदि उक्त तेल न मिले तो केवल नमक ही डाल दें। अथवा जले हुए भाग को वस्त्र धोने के सोड़ा से ढक कर उस पर गीला वस्त्र रखने से भी बहुत लाभ होता है।

(५) अथवा वस्त्र धोने के सोडा को जल में डाल कर उसे जले हुए स्थान पर लगावें तो जलन शीघ्र शान्त होती है। यदि बहुत-सा भाग गहरा जला हो तो जल में दश प्रतिशत सोड़ा डाल कर उसमें भिगोये हुए कपड़े की पट्टी रखने से लाभ होता है।

(६) यदि उस समय उक्त कोई वस्तु न मिले तो सरसों का, तिल का या अन्य किसी प्रकार का भी जो तेल उपलब्ध हो सके उसे जले हुए भाग पर डालना चाहिए।

(७) अथवा कच्चा आलू, पका केला, शहद या गुड़ लगाने भी लाभ हो सकता है। यदि फफोलों की खाल हट कर घाव बन गए हों तो हुक्के के पानी से धोकर सुखाना चाहिए और उस पर सोड़ा या अरारोट छिड़क देना चाहिए। यदि पीव पड़ जाय तो जैतून का तेल लगा कर काश्तकारी सफेदा लगावें।

(८) जले हुए स्थान पर नारियल का तेल और महुए का तेल मिला कर लगाना बहुत हितकर होता है। ध्यान रहे कि घावों में हवा नहीं लगनी चाहिए, इसलिए उन्हें रुई आदि लगा कर ऊपर से कपड़ा ढक देना चाहिए।

(९) वातसार और अग्निसार अन्तर्धौति करें। यदि उदर या उसके नीचे अथवा समीप का कोई भाग जल गया हो तो स्थलवस्ति का प्रयोग करें। आसनों में सिंहासन या भद्रासन करना हितकर है। सुखासन से बैठ कर नाड़ी शोधन प्राणायाम करने से भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

(१०) सुखासन पर बैठ कर बाँयी नासा से पूरक करें तथा पूरक के अन्त और कुम्भक के आरम्भ से पूर्व उड्डीयान बन्ध करें और जब तक वायु रोकने में कठिनाई न हो तब तक रोकें और फिर दाँयी नासा से रेचक करें। इसके बाद इसी को विलोम क्रम से करें अर्थात् दाँयी नासा से पूरक और बाँयी नासा से रेचक करना चाहिए।

(११) दग्ध व्रण ठीक होने पर उनके दाग बने रहते हैं, उन्हें मिटाने के लिए भी नाड़ी-शोधन प्राणायाम उपयुक्त रहता है। साथ ही नारियल का तेल, महुए का तेल और जैतून का तेल लगाते रहना चाहिए। तेल लगाकर उस स्थान को कुछ देर तक धूप में रखने से रंजक पदार्थ समाविष्ट होकर त्वचा को स्वाभाविक अवस्था में ले आता है।

पानी में डूबने के उपसर्ग और उपचार

किसी प्रकार जल में डूबने पर श्वास रुकने लगता है, उससे प्राणावरोध होकर मृत्यु तक होजाती है। कुछ अभागे मनुष्य आत्म-हत्या के उद्देश्य से ही कुँए या नदी में कूद जाते हैं, परन्तु यदि समय पर किसी के देख लेने पर सहायता मिल जाती है तो निकाले जाने पर बच भी जाते हैं। इस समय श्वास रुकने का प्रतिकार होजाने से मृत्यु से बचाव संम्भव है। इसके लिए निम्न उपचार करना चाहिए—

(१) मुख खोल कर जीभ को बाहर की ओर खींचें तथा दोनों नासापुटों को बन्द करके रोगी के मुख में अनेक बार जोर-जोर से फूँक मारें। फूँक मारने की यह क्रिया प्रति मिनट पन्द्रह-बीस बार करनी चाहिए इससे श्वास की क्रिया का पुनरारम्भ सम्भव है।

(२) पहने हुए भीगे वस्त्रों को उतार कर शरीर को सेंकें।

(३) पेट के बल लिटा दें तथा शरीर का मध्य भाग इस प्रकार ऊँचा रखें कि पाँव और शिर धरती पर झूलते हुए-से प्रतीत हों। इसके लिए रोगी के वस्त्र को पीठ की ओर से ऊपर खींचना चाहिये, फिर उदर और छाती को दबावें, इस क्रिया से फेंफड़ों तक पहुँचा हुआ पानी निकल जाता है। उसके बाद रोगी को चित्त सुलावें और उसकी दोनों कुहनियों को अपने हाथों से पकड़ कर ऊपर की ओर झोंका देकर उठावें। फिर दोनों कुहनियों को मोड़ कर छाती पर धीरे-धीरे कसें और उनसे दबाव डालें। इस योग विधि के द्वारा श्वास का पुनः संचार होने लगता है।

(४) श्वास चलना आरम्भ होने पर रोगी को शीघ्र ही गर्म और कोमल बिछौने पर शवासन से लिटाना चाहिए। जाड़े की ऋतु हो तो कम्वल या रजाई उढ़ा दें। फिर उसे थोड़ा-सा गर्म दूध दिया जा सकता है।

(५) रोगी को आवश्यकतानुसार धूप का सेवन कराना भी हितकर है। रोगी अपने को कुछ स्वस्थ अनुभव करे तो उसे अपने स्वास्थ्य-लाभ के लिए दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम करना चाहिए।

नकसीर (नाक से रक्त स्राव)

सामान्य अवस्था में यह लक्षण अधिक गर्म पदार्थों के सेवन से हो जाता है। परन्तु इसमें स्थायित्व नहीं होता और खून स्वतः रुक जाता है, किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं होती।

नाक से खून गिरने का एक कारण किसी अन्य रोग का होना भी है उनमें यकृत का विकार, उपदंश का विकार, अजीर्ण अधिक परिश्रम या जोर की खाँसी भी है। नाक या शिर में किसी प्रकार की चोट लगने अथवा रक्त की अधिकता होने से भी इसकी संभावना हो सकती है।

नासिका से रक्त का स्राव भी अनेक प्रकार का होता है। पतला लाल-पानी-सा निकलना, गाढ़ा स्राव होना, थक्का-थक्का जैसा लगातार

निकलते रहना, स्राव के साथ दुर्गन्ध आना आदि अनेक भेद माने जाते हैं।

नकसीर के सरल उपचार

(१) सामान्य नकसीर में नाक की जड़ पर बहुत ठण्डे पानी की धार से तर्रा दें अथवा बर्फ रखें। अनेक बार गुनगुने जल में थोड़ा-सा नमक मिला कर नाक को धोने से नाक साफ होजाती और रक्त बन्द हो जाता है।

(२) मुख को बन्द करके नासापुटों से धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास लेने छोड़ने वाली प्राणायाम क्रिया से गिरता हुआ रक्त रुक जाता है।

(३) ठण्डे जल से स्नान करें और नाक के छिद्रों से ठण्डा पानी चढ़ा कर निकालें। अथवा योग-विधि से नेति कर्म करें। यदि इसका नित्य अभ्यास किया जाय तो यह रोग फिर कभी नहीं होता।

(४) शीत्क्रम कपालभाति करना इस रोग का प्रबल उपचार है। व्युत्क्रम कपालभाति से भी आशातीत लाभ होता है। इसके साथ नाड़ी-शोधन प्राणायाम भी करना चाहिए।

(५) बाँए हाथ में जल का पात्र लेकर कपालरन्ध्र पर छोड़ते हुए दाँये हाथ की हथेली से मलते जाँय। इससे भी सामान्य अवस्था वाला नकसीर रुक जाता है।

(६) सीधे खड़े होकर माथे के ऊपरी भाग पर अपने दोनों हाथ ले जाकर स्थिर हो जाँय और कुछ देर कुम्भक द्वारा श्वास रोक कर खड़े रहें।

(७) यदि रक्त स्राव में तीव्रता हो, किसी प्रकार रुकता ही न हो तो मेरु दण्ड पर ठण्डे पानी का तरड़ा दें अथवा बर्फ की सिल्ली रखें। यदि इससे भी लाभ न हो तो जननेंन्द्रिय पर बर्फ का स्पर्श कराने से रक्त रुक जाता है।

मूत्रावरोध और मूत्राभाव

मूत्राशय में एकत्र होता हुआ मूत्र जब किसी वाधा के कारण निकल नहीं राता तो यह अवस्था उत्पन्न होजाती है। इसमें तलपेट का फूलना पेशाब का रुक जाना और दाह आदि के साथ जननेन्द्रिय में असह्य वेदना का अनुभव होता है। किसी प्रकार की चोट से भी यह स्थिति उत्पन्न होजाती है और आवश्यक होता है कि रोगी को उस वेदना से शीघ्र ही छुटकारा मिलने वाला उपचार किया जाय।

कुछ व्यक्तियों में मूत्राभाव का रोग भी देखा गया है। उसमें, मूत्र-पिण्ड में मूत्र की उत्पत्ति ही नहीं होती। उसका कारण प्रायः मूत्र के विषैले उपादानों का रक्त के साथ मिश्रित होजाना है। इसमें तलपेट तो नहीं फूलता, परन्तु भ्रम, तन्द्रा, मूर्च्छा आदि के रूप में भयंकर उपसर्ग दिखाई देते हैं। कुछ रोगियों को मूत्राभाव के साथ उदरामय और ज्वरादि विकार भी होजाते हैं, जिनका उचित उपाय न होने पर गम्भीर अवस्था उत्पन्न होजाती है। मूत्राशय में प्रदाह का होना तो प्रायः सामान्य लक्षण ही है।

मूत्रावरोध और मूत्राभाव के उपचार

(१) सामान्य अवस्था में कच्चे नारियल का पानी पिलाने से लाभ होजाता है। अथवा जल में चौथाई भाग दूध मिला कर उसमें कागजी नीबू का रस, मिश्रीयुक्त डाल कर रोगी को पिलावें तो मूत्र स्वतः ही उतरने लगता है।

(२) थोड़े-से कलमी शोरा को जल में घोलकर उसमें कपड़ा भिगोवें और पट्टी बना कर उदर पर रखें तो इससे भी रुका हुआ पेशाब होने लगता है और वेदना मिट जाती है।

(३) टब में इतना गर्म जल भरें कि उसमें कमर पर्यन्त भाग डूब जाय। उसमें बैठने से भी मूत्रावरोध का शमन होता है तथा जलन, बेचैनी मिट जाती है।

(४) वारिसार अन्तर्धौति, दण्डधौति और मूलशोधन विधि से प्रक्षालन कर्म करना चाहिए। जलवस्ति का प्रयोग उत्कटासन के साथ करें। इससे मूत्राभाव में भी स्थायी लाभ होता है।

(५) नौलिकर्म भी इसका श्रेष्ठ उपाय है। सिद्धासन के साथ भस्त्रिका कुम्भक करना भी बहुत हितकर है। अथवा मूत्रावरोध और मूत्राभाव दोनों के सफलता पूर्वक शमन के लिए महाबन्ध करना चाहिए।

मेदोरोग और मेदस्वी मनुष्य

शरीर में मेद की वृद्धि होने के कारण मनुष्य अस्वाभाविक रूप से मोटा होजाता है। उसके अनेक कारण हैं—व्यायाम आदि न करना, कफकारक पदार्थों का अधिक सेवन करना, दिन में सोना इत्यादि। ऐसा होने से अन्नरस केवल आँव रूप होकर मेद की वृद्धि करता है, जिससे अन्य धातु अस्थि, मज्जा, वीर्य आदि अपुष्ट होकर मेद की वृद्धि होती जाती है। इससे वह मनुष्य स्थूल और हृष्ट-पुष्ट दिखाई तो देता है, परन्तु उसमें कुछ शक्ति नहीं होती।

मेदस्वी व्यक्ति में तृषा, मोह, निद्रा, अंग-ग्लानि, अकस्मात् श्वास-रोग की प्राप्ति, पसीना, दुर्गन्ध और अधिक भूख की अनुभूति होती है। परन्तु जैसे-जैसे मेद बढ़ता है, वैसे-वैसे ही शक्ति घटती जाती है और उसे मैथुनेच्छा भी नहीं रहती। मेद का स्थान उदर और अस्थियों में होने के कारण मेदस्वी व्यक्ति का उदर अधिक बढ़ता है।

मेद वृद्धि के कारण मार्गों के रुक जाने से जब कोष्ठ में वायु का विशेष रूप से संचार होता है, तब वह वायु अग्नि की वृद्धि करता है, इसलिए भूख अधिक लगती है तथा आहार का शोषण तुरन्त होता है, जिससे आहार के शीघ्र पचने पर भोजन करने की इच्छा पुनः उत्पन्न होजाती है। इस प्रकार भोजन करने में समय का जो व्यतिक्रम होता है, उससे दारुण वातरोग तक पैदा हो सकते हैं। इस प्रकार यह बढ़े हुए अग्नि और वायु बहुत उपद्रव करते हैं।

जब मेद की अत्यन्त वृद्धि होजाती है तब वायु आदि के अति प्रकोप से सहसा भयंकर प्रमेह, धातुक्षय, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि तथा अनेक प्रकार के वात रोग इत्यादि की उत्पत्ति होती है, जिससे रोग असाध्य की अवस्था पर पहुँच जाता है।

जिस मनुष्य के मेद-माँस अत्यन्त बढ़ जाते हैं उसके कूल्हे, उदर, स्तन आदि माँसल अंग थल-थल करते हुए हिलते हैं और उसका मोटा-पन बहुत बढ़ जाता है। यह लक्षण अति स्थुल या बहुत मोटे मनुष्य में अधिक पाये जाते हैं।

मेदोरोग के उपचार

(१) जिन कारणों से मेद वृद्धि हुई हो, उन कारणों का त्याग करें। आलस्य छोड़कर शारीरिक परिश्रम, व्यायाम आदि अवश्य करना चाहिए दिन में सोना वर्जित है। रात्रि में भी बहुत कम सोना हितकर होता है।

(२) दही आदि मेद वर्द्धक पदार्थों का सेवन छोड़ दें। अल्प आहार करें। भोजन में ली जाने वाली वस्तुएँ हल्की और सात्विक होनी चाहिए। अन्न का सेवन कम से कम किया जाय। यथा सम्भव फल का आहार करना उचित है। कच्ची गाजर और शहद का अधिक से अधिक सेवन और अन्न का त्याग शरीर के मेद को घटाने में सहायक होसकता है।

(३) उत्थित जानुशीर्षासन, उत्तानपादासन, हस्तशीर्ष चक्रासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तान हस्तासन, मत्स्यासन, उत्कटासन आदि के साथ सूर्यभेद, उज्जायी या भस्त्रिका कुम्भक करने से भी शीघ्र लाभ हो सकता है।

(४) धूप के सामने खड़े होजाइए, दोनों हाथों को परस्पर मिलाकर सिर के ऊपर तान लीजिए, उनकी अँगुलियाँ परस्पर में गुँथी रहें।

शरीर के ऊर्ध्वांग को पीछे की ओर तानने का प्रयत्न कीजिए और इसके साथ ही श्वास खींच कर कुम्भक कीजिए तथा वक्षस्थल, ग्रीवा और हाथों में अधिक से अधिक तनाव लाइए। टाँगें भी सीधी और तनी हुई रहनी चाहिए। इससे मेद कम होने में सहायता मिलती है।

(५) यायविडंग, सोंठ, यवक्षार, कान्तलौह भस्म, जौ और आँवले समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बनावें और ६ रत्ती से ८ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ सेवन करें तो स्थूलता नष्ट होगी।

(६) बेर की पत्तियों को पीसें और उसमें कुछ चावल डाल कर, काँजी के साथ पका कर पेया बना लें। इसके सेवन से भी शरीर का मोटापन दूर होजाता है।

(७) स्थूलता के साथ शरीर से दुर्गन्ध आती हो तो वासा की पत्तियों के स्वरस में शंख का चूर्ण मिला कर लेप करने से दुर्गन्ध दूर होजाती है। वासा की पत्तियाँ न मिलें तो उनके स्थान पर बेल पत्र ले सकते हैं।

(८) प्रातःकाल शहद मिला कर जल पीवें और दुपहर के समय गर्म भात का माँड पीवें तथा दिन भर कुछ भी न खाँय। ऐसा कुछ दिन कर सकें तो स्थूलता शीघ्र नष्ट होजाती है।

कार्श्य रोग के लक्षण

शरीर में कार्श्य अथवा अधिक पतलापन भी कभी-कभी रोग की गणना में आजाता है। उस रोग को क्षीण या शरीर क्षीण रोग भी कहते हैं। इसका कारण—वायु का कुपित होकर अन्न को रूक्ष कर देना, लंघन, अल्प भोजन, वमन, विरेचन, चिन्ता क्रोध, शोक, भय, मूत्र और मल का वेग रोकना, निद्रा को रोकना, व्यायामादि अधिक करना, सदा रोगी बने रहना, अति मैथुन या प्रमेह आदि रोगों का होना आदि होता है।

इसमें कूल्हे, उदर, ग्रीवा और धमनी जाल तथा अस्थियाँ भी सूख जाती हैं और जोड़ मोटे होजाते हैं। यदि कोई मनुष्य ज्वरादि से अथवा रूखे अन्न-पानादि से कृश होजाता है और वह कुपथ्य करता है तो उसके रोग में अन्य अनेक उपसर्ग उत्पन्न होजाते हैं। यदि वह खटाई खा लेता है तो उसे खाँसी होजाती है, यदि वह अभिष्यन्दी और विदाही पदार्थ खाता है तो प्लीहा रोग उत्पन्न होजाता है, यदि वह अधिक मैथुन करता है तो क्षय रोग का शिकार होजाता है। इसी प्रकार विभिन्न अपथ्यों से विभिन्न उपद्रवों और विकारों की प्राप्ति होजाती है।

जिसके शरीर में स्वाभाविक रूप से कृशता हो, जिसे स्थायी मन्दाग्नि हो और जिसमें सहज ही बल का अभाव हो, वह कभी किसी चिकित्सा से अपनी कृशता को दूर नहीं कर सकता। इससे भिन्न सभी प्रकार की कृशता उपचार से ठीक हो सकती है।

कार्श्य रोग के उपचार

(१) कृशता के रोगी को अधिक परिश्रम और अधिक व्यायाम करना वर्जित है। भूख, प्यास को न रोके अर्थात् भूख लगने पर भोजन करे और प्यास लगने पर पानी पिये, उत्कट औषधि, शीतलता, उष्णता और मैथुन आदि का भी त्याग कर देना उचित है।

(२) कार्श्य की निवृत्ति के लिए शवासन के साथ उज्जायी कुम्भक करना बहुत हितकर रहता है। दीर्घ श्वास-प्रश्वास वाला प्राणायाम और नाड़ी-शोधन प्राणायाम करने से शिराओं को शक्ति प्राप्त होती है, अथवा पद्मासन लगा कर काकी मुद्रा द्वारा वायु खींच कर हृदय तक भरें और धीरे-धीरे मुख-मार्ग से ही निकाल दें। साथ ही दही, दूध, मक्खन, मलाई आदि पौष्टिक पदार्थों का तथा अंगूर, सेव आदि फलों का अधिक से अधिक सेवन करना चाहिए।

(३) पेट भर भोजन करें। पिश्ता, चिलगोजा, काजू आदि सूखे मेवों का सेवन करने से मेद बढ़ता है। बादाम का हलुआ या दूध में घृत

छोंक कर पीने से भी शरीर में बल और मेद की वृद्धि होकर कृशता दूर होजाती है।

(४) दही का श्रीखण्ड बना कर सेवन करें। ठीक प्रकार से जमे हुए दही को खूब फेंटें और उसमें पिसी हुई मिश्री, छोटी इलायची और पिश्ता, बादाम आदि मेवे डाल कर खावें। यदि शीत-ऋतु हो तो थोड़ी केशर और कस्तूरी भी डाल लेनी चाहिए।

(५) जो लोग मूल्यवान पदार्थों का सेवन करने में असमर्थ हों, इन्हें अश्वगन्ध और विधारा समान भाग का चूर्ण बना कर ४ से ६ माशे की मात्रा में दूध के साथ सेवन करना चाहिए।

(६) अथवा अश्वगन्ध को जौकुट करके जल के साथ पका कर काढ़ा बना लें और छान कर बराबर की चीनी मिलावें और पुनः आग पर चढ़ा कर चाशनी बना लें। जब शर्बत जैसा होजाय तब उतार लें। इसे दो-तीन चम्मच की मात्रा में दिन में दो-तीन बार सेवन करने से निर्बलता दूर होती और शरीर का पतलापन मिट कर मेद बढ़ने लगता है।

(७) विधारे की जड़ को कूट-कपड़छन कर उसे शतावरी के रस या क्वाथ से सात बार घोटें अर्थात् सात भावनाएँ देकर घोटते-घोटते ही शुष्क कर लें। इसे दो माशे की मात्रा में घृत के साथ सेवन करें तो बुद्धि बल और मेद की वृद्धि होती है। बली-पलित रोग को दूर करने में भी यह दवा अत्यन्त लाभप्रद है।

(८) उड़द की दाल को घी के साथ भून कर दूध में डाल कर खीर बनावें और शर्करा डाल कर सेवन करें। इससे शरीर में बल, मेधा और मेद की वृद्धि होती है।

(९) पके हुए बढ़िया केले का छिलका उतार कर गूदे को दूध के साथ मथें और फेंट कर छोटी इलायची का चूर्ण एवं मिश्री का चूर्ण मिला कर प्रातः—सायं सेवन करें तो इससे शरीर की कृशता दूर होकर स्थूलता के साथ बल की भी वृद्धि होती है।

—

(१०) सेव के मुरब्बे में चाँदी के वर्क मिलावें और साथ ही २ रत्ती मोती की भस्म और थोड़ा-सा इलायची का चूर्ण डाल कर प्रातः कालीन नाश्ते के रूप में लें और सायंकाल, भोजन से दो घण्टे पूर्व भी लेना चाहिए।

(११) आयुर्वेदिक अवलेहों में इसके लिए च्यवनप्राश सर्वोत्तम है। अगस्त्य हरीतकी से भी बल और मेद की वृद्धि हो सकती है। जाड़ों की ऋतु हो तो अललेहों में केशर और कस्तूरी मिला लेना अधिक हितकर रहता है।

(१२) खोआ शरीर में स्थूलता उत्पन्न करता है। इसलिए खोये के मिश्रण से बनाए जाने वाले बादाम पाक, गाजर पाक, पिश्ता पाक या मोती पाक आदि के सेवन से लाभ होसकता है।

(१४) द्राक्षासव, अंगूरासव, लौहासव, अश्वगन्धारिष्ट आदि का सेवन डेढ़-दो तोले की मात्रा में समान भाग जल मिला कर करने से बल पुष्टि, मेद और मेधा की भी वृद्धि होती है।

(१५) स्वर्ण, मुक्ता, अम्बर, केशर, कस्तूरी आदि के अनेक योग आयुर्वेद में मिलते हैं। उनका सेवन भी अन्यान्य योग-क्रियाओं के साथ किया जाना हितकर रहता है।

❀ योग-चिकित्सा प्रथम खण्ड समाप्त ❀

———